राष्ट्रीयता

[राष्ट्रीय निबन्धों का क्रमबद्ध संग्रह]

लेखक

डॉ० गुलाबराय, एम० ए०, डी० लिट्०

प्रकाशन-विभाग

गयाप्रसाद एण्ड संस : आगरा

प्रकाशक:

प्रकाशन-विभाग

गयाप्रसाद एण्ड संस

बाँके विलास, सिटी स्टेशन रोड, आगरा

O

मुख्य विक्रय-केन्द्र :

गयाप्रसाद एण्ड सन्स, हॉस्पीटल रोड, आगरा
ऑरियन्टल पब्लिशर्स, परेड कानपुर
श्री अलमोड़ा बुक डिपो, अलमोड़ा
पॉपुलर बुक डिपो, चौड़ा रास्ता, जयपुर
लॉयल बुक डिपो, पाटनकर बाजार, गवालियर
कैलाश पुस्तक सदन, हमीदिया रोड, भोपाल

O

पुस्तक का मूल्य :

५ रुपया

O

पुस्तक का संस्करण :

१९६१

O

मुद्रक :

जगदीशप्रसाद अग्रवाल, एम० ए०
एजूकेशनल प्रेस, आगरा

समर्पण

जग सुकृत्य-रत भारत के सौभाग्य-भाल तुम
प्रिय स्वदेश अन्तर आत्मा के अन्तराल तुम
सुरुचि, सुवृत्ति, सुतेज, सुप्रेरित-मति-विशाल तुम
सुघर सुपूत सुमाता के लाड़ले लाल तुम

—श्रीधर पाठक

"यह युग साहस का तकाजा करता है। कितने सौभाग्यशाली हैं आज के नवयुवक कि उन्हें अपनी सामर्थ्य का सुवृत्त देने और संसार में चमकने-दमकने के इतने अनगिनित अवसर प्राप्त हुए हैं। अब तो आकाश की सीमाएँ भी टूट गई हैं। अब कोई पाबन्दी है तो मनुष्य की अपनी संकुचित दृष्टिकोण की……हर द्वार साहसिक और नेतृत्व की सामर्थ्य वाले नवयुवकों का स्वागत करने के लिए व्यग्र है।"

—श्रीमती इन्दिरा गान्धी

इन्हीं उन्मुक्त द्वारों में प्रवेश करने के लिए उत्सुक साहसी नवयुवकों

को

जो अपने वैयक्तिक क्षुद्र स्वार्थों, जातिवाद तथा
साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता के संकुचित
विचारों से ऊँचे उठ कर
राष्ट्र के प्रति अपना कर्त्तव्य
पालन करेंगे
सस्नेह
समर्पित

भारत स्तवन

अयि भुवन मन मोहनी ।
अयि निर्मल सूर्य करोज्ज्वल धारिणि, जनक जननि जननी
नील सिन्धु जलधौत चरण तल
अनिल विकम्पित श्यामल अञ्चल
अम्बर चुम्बित भाल हिमाचल शुभ्रतुषार किरीटिनी !

—रवीन्द्रनाथ ट'

जय जय भारत विशाल झलकत हिम कीट भाल
बुधिबल दृग ज्वलित ज्वाल तेज पुंज धारी ।
गिरिवर भ्रू भंग धारी, गंगधार कंठहार
सुर पुर अनुहार विश्ववाटिका विहारी ।

—श्रीधर पाठक

निवेदन

जय उज्ज्वल कीर्ति विशाल हिन्द,
जय करुणा सिन्धु कृपालु हिन्द।
जय जयति सदा स्वाधीन हिन्द,
जय जयति जयति प्राचीन हिन्द।

—श्रीधर पाठक

वर्तमान भारत एक लोक-कल्याण राज्य है। लोक-कल्याण और लोक-मंगल की सद्भावना और सदाशयता होते हुए भी जन-हित के कार्यों में उतनी सफलता नहीं मिल रही है जितनी कि संस. को देखते हुए अपेक्षित है और जो सफलता मिली है उसके प्रति हमारे संकुचित दृष्टिकोण के कारण उतना संतोष और हृदयोल्लास नहीं है जितना कि आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है। इसके कई कारण हो सकते हैं, उनमें से एक यह भी है कि हमारी शिक्षा में राष्ट्रीय मूल्यों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। हम में वह राष्ट्रीय चेतना और उत्तर दायित्त्व की भावना नहीं पैदा की जाती जो कर्तव्य पालन और आत्म-बलिदान के लिए अनिवार्य होती। शिक्षा की इसी कमी की आंशिक पूर्ति के लिए यह छोटी-सी पुस्तक लिखी गई है। हमारे आज के विद्यार्थीगण ही भावी नागरिक और देश के विधायक बनेंगे। राष्ट्रीयता के अंकुर यदि बाल्यकाल में दृढ़ और पुष्ट हो जाते हैं तो वे सारे जीवन के कार्य-कलाप पर अपना शुभ प्रभाव डालते रहते हैं जिससे देश उन्नति की ओर अग्रसर होता है।

इस पुस्तक में राष्ट्रीयता के साधारण बोध के साथ उसके बाधक तत्वों पर भी विचार किया गया है और राष्ट्रीयता की

सीमाएँ बतलाई गई हैं जिनके उल्लंघन करने पर राष्ट्रीयता एक गुण न रहकर अभिशाप बन जाती है।

इस पुस्तक में किसी दल या सम्प्रदाय विशेष का पक्ष नहीं लिया गया है और न किसी के दोष दिखाए गए हैं। राष्ट्रीयता के व्यापक सिद्धान्तों के साथ भारत की शान्तिमयी सहअस्तित्व की पंचशीलात्मक नीति पर थोड़े गर्व के साथ प्रकाश अवश्य डाला गया है और भारत के वर्तमान राष्ट्र चिह्नों का भी वर्णन किया गया है। हर एक राष्ट्र के प्रतीक होते हैं और भारत के भी हैं; उनका विवेचन राष्ट्र चिन्हों के महत्व समझने के लिए आवश्यक है। राष्ट्र चिन्ह जहाँ तक पार्टी से निरपेक्ष और स्थायी रहें वहाँ तक श्रेयष्कर हैं।

(इस पुस्तक में किसी प्रकार के शास्त्रीय या वैज्ञानिक अध्ययन का दावा नहीं किया जाता है। इसमें नागरिकों और विशेषकर विद्यार्थियों में देश के प्रति सद्भावना और कर्तव्य बुद्धि जाग्रत करने के लिए समय-समय पर लिखे हुए निबन्ध संग्रहीत हैं। आवश्यकतानुसार इन निबन्धों में काट-छाँट एवं परिवर्धन करके और कुछ नए निबन्ध जोड़ कर इसको पुस्तक का रूप दिया गया है।) पाठक लोग इसको इसी रूप में अपनाने की कृपा करेंगे। इन में कहीं-कहीं पुनरावृत्ति अवश्य मिलेगी किन्तु विरोध नहीं मिलेगा।

पुस्तक को थोड़ा भावात्मक रंग देने और सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए कुछ कविताओं और गद्यखण्डों के भी उद्धरण दिये गये हैं। उनके कवियों और लेखकों के प्रति आभार प्रकट करता हुआ मैं इस पुस्तक को अपने होनहार नवयुवकों के हाथ में सौंपता हूँ।

गोमती–निवास
दिल्ली–दरवाजा
आगरा
२६ जनवरी १९६१

विनीत—
गुलाबराय

अनुक्रम

राष्ट्रीयता

१

राष्ट्रीयता और उसके उपकरण

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस ताम रस गर्भ विभा पर–नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर–मंगल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे–शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किए–समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल–बनते जहाँ भरे करुणा जल।
लहरें टकराती अनन्त की–पाकर जहाँ किनारा।
हेम कुम्भ ले उषा सबेरे–भरती ढुलकाती सुख मेरे।
मदिर ऊँघते रहते जब–जगकर रजनीकर तारा।

—प्रसाद

मिश्रित मनोवेग—राष्ट्रीयता का भाव यद्यपि वात्सल्य की भाँति हमारी सहज वृत्तियों से अव्यवहित रूप से सम्बन्धित नहीं है, तथापि वह पर्याप्त रूप से तीव्र और व्यापक है। उनके मूल में दो सहज वृत्तियाँ काम करती हैं—एक एकत्र रहने की वृत्ति (Instinct of Gregariousness) और दूसरी आत्म-रक्षा की।

यह भाव मनोवेग की तीव्रता तक पहुँच जाता है, किन्तु यह मनोवेग की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है और इसको भाववृत्ति (Sentiment) कहना अधिक संगत होगा। यह एक मिश्रित मनोदशा है, जिसमें देश प्रेम के साथ उसकी उन्नति की अभिलाषा और उसके अतीत और वर्तमान के प्रति गर्व की भावना रहती है।

व्याख्या और मूल तत्त्व—परिभाषा देना तो कठिन कार्य है, किन्तु, यदि देना ही हो, तो हम कह सकते हैं कि एक सम्मिलित राजनीतिक ध्येय में बँधे हुए किसी विशिष्ट भौगोलिक इकाई के जनसमुदाय के पारस्परिक सहयोग और उन्नति की अभिलाषा से प्रेरित उस भू-भाग के लिए प्रेम और गर्व की भावना को राष्ट्रीयता कहते हैं। इसके मूल तत्व हैं—एक विशिष्ट भू-भाग से सम्बन्धित एक राजनीतिक इकाई, उसमें रहने वाले लोगों में पारस्परिक सहयोग और सेवा के साथ सर्वतोमुखी उन्नति करने और संगठित रहने की उत्कट अभिलाषा, उस भू-भाग से प्रेम और उसकी सभी चीजों पर, जैसे साहित्य, संस्कृति, रहन-सहन, वेषभूषा आदि पर, गर्व की भावना। कुछ लोग धर्म, जाति और भाषा की एकता को भी एक आवश्यक अंग मानते हैं। ये एकताएँ वाञ्छनीय होते हुए भी अनिवार्य नहीं हैं। वैसे एक भू-भाग से सम्बन्ध होना राष्ट्रीयता का एक अनिवार्य अंग है किन्तु आजकल उसकी अखण्डता इतनी आवश्यक नहीं है। पाकिस्तान इसका उदाहरण है। एक भू-भाग से सम्बन्धित होने पर भी कनेडा और यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ-अमेरिका एक राष्ट्र नहीं। एक भाषा भी उनको एक राष्ट्र नहीं बनाती। इँगलैण्ड में बहुत सी जातियों का सम्मिश्रण होने पर भी वह अपनी राजनीतिक इकाई के कारण एक राष्ट्र है। यहूदी लोग भिन्न-भिन्न देशों में बिखरे हुए पड़े थे। उनका किसी भू-भाग से सम्बन्ध न होने के कारण उनमें राष्ट्रीय भावों के होते हुए भी

उनकी राष्ट्रीयता तभी मान्य हुई जब उनका इजराइल के भू-भाग से सम्बन्ध हो गया।

उचित सीमाएँ—राष्ट्रीयता का आधार विचार मूलक अवश्य है, किन्तु वह भावनामय अधिक है। यह एक ऐसी भावना है, जो वात्सल्य और ईश्वर भक्ति की भाँति व्यक्ति को क्षुद्र स्वार्थों से ऊँचा उठाने के कारण सराहनीय कही जा सकती है। इसकी सीमाएँ अवश्य हैं, किन्तु उनका उल्लंघन तभी होता है, जब यह भाव मद की कोटि में पहुँच जाता है और जब इस भाव के रखने वाले दूसरे देशवासियों को हेय दृष्टि से देखकर उनके प्रति द्वेष रखने लगते हैं, तभी यह भाव निंद्य बन जाता है।

उपयोगिता—साधारणतया राष्ट्रीयता एक उच्च भाव है, जो राष्ट्र की रक्षा और उन्नति के लिए आवश्यक है। राष्ट्रीय भावना उत्तरोत्तर बढ़ाई जा सकती है, और इसे बढ़ाने की आवश्यकता भी है। इस भाव को दृढ़ बनाने से राष्ट्र की संस्थाओं के प्रति प्रेम और गर्व की भावनाएँ बढ़ती हैं और उनको उन्नत बनाने की प्रेरणा मिलती है। राष्ट्रीय गर्व की भावना रखने वाला व्यक्ति आपसी फूट तथा उन सब कार्यों से बचेगा जिनसे राष्ट्र का सर नीचा हो। हमारे देश में जो भ्रष्टाचार है, ब्लैक मार्केटिंग है और नैतिक पतन है, वह राष्ट्रीय भावना की कमी के कारण ही है। पंचवर्षीय योजनाओं तथा अन्य निर्माण कार्यों में उचित दिलचस्पी न रखना, उचित एवं वैध सरकारी टैक्सों के प्रति विद्रोह की भावना, ये सब बातें राष्ट्रीय भावना की कमी के कारण ही देखने में आती हैं। विदेशों में रहने वाले एक देश के निवासियों में तथा युद्ध या अन्य संकटकालीन समयों में यह भावना साधारण रूप से बढ़ जाती है।

विदेशी शासन में ह्रास—विदेशी शासन के समय में पारस्परिक फूट द्वारा हार की मनोवृत्ति पैदा करके या जातीय हीनता का भाव थोपकर यह भावना शिथिल बनाई जाती है। इसके लिए कभी-कभी ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत भी किया जाता है। इसी हेतु विजेताओं की जातीय श्रेष्ठता का भी प्रचार किया जाता है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप विदेशी शासन में राष्ट्रीय भावों का पोषण भी होता है। शासित वर्ग में मिलकर विदेशी शासन का विरोध और सामना करने के भाव जाग्रत हो उठते हैं और इस प्रकार राष्ट्रीयता पनपने लगती है।

ह्रास के आन्तरिक कारण—राष्ट्रीय भावना के ह्रास के बाहरी कारणों के अतिरिक्त कुछ आन्तरिक बाधक तत्व भी होते हैं, जो पराधीनता के अभाव में भी काम करते हैं और जिनका परिणाम राष्ट्र के लिए घातक होता है, वे—वैयक्तिक और कौटुम्बिक स्वार्थ, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, सामाजिक भेदभाव, प्रान्तीयता, भाषा सम्बन्धी पार्थक्य भावना आदि हैं। इन सबकी उचित और अनुचित सीमाएँ हैं। वैयक्तिक और कौटुम्बिक स्वार्थ, साधारणतया तब तक बुरा नहीं कहा जा सकता जब तक वह दूसरों के हितों में बाधक न हो। यही हाल किसी सीमा तक जातिवाद और साम्प्रदायिकता का भी है। जहाँ तक एक वर्ग के लोग अपने वर्ग की उचित उन्नति की अभिलाषा से संगठित हों, वहाँ ये बातें क्षम्य समझी जा सकती हैं किन्तु जहाँ ये भाव दूसरी जातियों या सम्प्रदायों के प्रति घृणा और द्वेष फैलाने में प्रवृत्त होते हैं, वहीं ये नितांत निंद्य बन जाते हैं। सामाजिक भेदभाव सर्वथा निंद्य है। यह दूसरे में हीनता का भाव उत्पन्न करता है।

प्रान्तीयता तभी तक मान्य है जब तक वह अपने प्रान्त की जलवायु, नदी, पर्वतों और भाषा तथा साहित्य पर गर्व करने में

और उस प्रांत की आर्थिक स्थिति उन्नत बनाने में सीमित रहे, किन्तु जहाँ यह दूसरे प्रान्तों के लोगों के साथ पार्थक्य या भेदभाव की भावना उत्पन्न करे, वहीं यह दूषित हो जाती है। ये भाव चाहे जितने भव्य और स्तुत्य हों, किन्तु ये तभी तक मान्य कहे जायँगे, जब तक ये दूसरों की समानता और स्वतन्त्रता तथा दूसरों के प्रति न्याय करने में बाधक न हों। रामराज्य में बैर और विषमता के लिए स्थान न था। राष्ट्रीयता के भाव तभी पनप सकते हैं जब किसी में हीनता का भाव उत्पन्न न होने दिया जाय और किसी को जाति, सम्प्रदाय या प्रान्त विषयक या वैयक्तिक हीनता के कारण उसके न्यायोचित अधिकारो से वंचित न किया जाय।

साधक तत्व--राष्ट्रीयता के बाधक तत्वों के साथ साधक तत्वों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। इनमें कुछ आन्तरिक हैं और कुछ बाह्य। आन्तरिक और बाह्य में कोई मौलिक पार्थक्य नहीं है। वे एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं। आन्तरिक पक्ष में एकता और समानता, स्वतन्त्रता और निर्भयता तथा देशोन्नति के हेतु पारस्परिक प्रेम, संगठन, सेवा और सहयोग की भावनाएँ आती हैं। इन भावनाओं के पोषण के लिए कुछ सैद्धांतिक विचार चाहिए और इनका व्यावहारिक निरूपण भी होता रहना आवश्यक है।

एकता--राष्ट्रीय एकता के लिए जातीय, धार्मिक अथवा भाषा की एकता अनिवार्य नहीं। यदि इनकी भी एकता सम्पन्न हो सके, तो सोने में सुगंध की बात समझी जा सकती है और सामाजिक संगठन में अधिक सहायता मिलती है। अंतर्प्रान्तीय व्यवहार चलाने के लिए तथा सम्मिलित हित के प्रचार के लिए एक ऐसी राष्ट्रभाषा की आवश्यकता रहती है, जिसमें प्रांतीय भाषाओं के साथ समान तत्त्व हों और जिसका जीवन-रस देश की संस्कृति से पोषित हो। आजकल जाति और कुटुम्ब के सम्बन्धों की अपेक्षा एक सम्मि-

लित ध्येय का बंधन दृढ़तर माना जाता है। एक ध्येय वाले लोगों की एक बिरादरी-सी बन जाती है। राष्ट्रीयता का भी बंधन ऐसा ही है। एक सम्मिलित ध्येय जब किसी भौगोलिक इकाई और सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्पराओं से संबद्ध हो जाता है, तब उसमें एक विशेष प्रेरक-शक्ति आ जाती है।) एकता के लिए नितांत एकरसता आवश्यक नहीं। जाति, भाषा, सम्प्रदायों के भेद के साथ भी एकता हो सकती है। हमारा संविधान ऐसी ही एकता चाहता है। यही एकता भेद में अभेद की सम्पन्न एकता कही जा सकती है। हमको नीरस एकता नहीं चाहिए। हम भेदों से नहीं डरते, जब तक स्वर-साम्य बना रहे।

समानता—(एकता ही के साथ समानता का भाव लगा हुआ है। हमको राष्ट्रीयता में बिरादरी की सी समानता चाहिए। राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों में जब तक समानता का भाव न होगा, तब तक राष्ट्रीयता की बात फीकी रहेगी।) इसीलिए, महात्मा गांधी ने अछूतोद्धार पर विशेष बल दिया था। किसी वर्ग में सामाजिक हीनता का भाव बनाए रखना मानवता के विरुद्ध है। प्रेम और सौहार्द के लिए समानता का भाव अनिवार्य है। विषमता ईर्ष्या और द्वेष की जनक होती है और इस प्रकार वह समाज के संगठन में बाधक होती है। तथाकथित श्रेष्ठ लोगों को निम्न स्तर के गिने जाने वाले लोगों के दृष्टिकोण से देखना चाहिए। दूसरे के दृष्टिकोण से देख सकना सच्ची उदारता है।

स्वतंत्रता और निर्भयता—स्वतंत्रता, समानता का स्वाभाविक परिणाम है। जब सब समान हैं, तब कोई पराधीन नहीं। किन्तु, स्वतंत्रता का अर्थ अनुशासनहीनता या स्वेच्छाचार नहीं। संगठन के लिए अनुशासन आवश्यक है। स्वतंत्रता की भी सीमाएँ होती हैं। सच्ची स्वतंत्रता वहीं है, जहाँ सबकी स्वतंत्रता सुरक्षित रह

सके और सबको अपनी उन्नति के समान अधिकार हों। सच्ची स्वतंत्रता में किसी को अपनी न्यायार्जित सम्पत्ति के उपभोग में बाधा नहीं होती, सबको समान सुविधाएँ मिलती हैं। सबके लिए न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन सुरक्षित रहने का राजकीय आश्वासन राष्ट्रीयता में साधक होता है। इसका अभाव असंतोष का, जो राष्ट्रीयता में सबसे जबर्दस्त बाधक होता है, जनक होता है। भाग्य से हमको पर-शासन से स्वतंत्रता मिल गई है, किन्तु, हम अभी पूर्ण आंतरिक स्वतंत्रता नहीं प्राप्त कर सके हैं। इसमें कुछ हमारा भी दोष है और कुछ प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण, सरकार की भी असमर्थता रही।

निर्भयता स्वतंत्र देश के लिए आवश्यक है। बाहरी आक्रमण से जनता को निर्भय रखना सरकार का उत्तरदायित्व तो है ही, किन्तु, जनता का भी कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक स्थिति के लिए तैयार रहे। संकट के समय प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह तन, मन, धन से देश की रक्षा के लिए उद्योगशील रहे। आंतरिक निर्भयता के लिए सच्ची स्वतंत्रता पहला उपकरण है। "जे बिन काज दाहिने बाएँ" ऐसे लोगों को छोड़कर कोई भी सज्जन सच्चरित्र मनुष्य का बाल बाँका नहीं कर सकता। चोर-डाकुओं के लिए सरकार तो है ही, व्यक्ति को भी सचेत रहना भय की निशानी नहीं है। सच्चरित्र आदमी को राज्य की ओर से कोई भय नहीं होता। अच्छा राज्य भय और आतंक से काम नहीं लेता है। भय और आतंक व्यक्ति के विकास में बाधक होता है और उससे अंत में राष्ट्र ही को नुकसान होता है। उन्नतिशील राष्ट्र भय की प्रीति नहीं चाहता वरन् प्रीति का भय चाहता है। यदि वर्त्तमान अधिकारीगण भय नहीं प्रदर्शित करते हैं, तो यह उनकी कमजोरी न समझी जाय, वरन् चरित्र की दृढ़ता समझी जानी चाहिए। आतंक पर जमा हुआ राज्य चिरस्थायी नहीं होता।

अधिकारियों को चाहिए कि यथासम्भव वे चरित्र का ऊँचा आदर्श उपस्थित कर सेवा-भाव से अपने कर्त्तव्य-पालन में तत्पर रहें। तभी शासित वर्ग उनके प्रति अनुरक्त रह सकता है। शासक वर्ग यदि अपना कर्त्तव्य- पालन करें तो शासितों को भी कर्त्तव्यच्युत होने की कम गुंजाइश रहेगी।

देशोन्नति के हेतु संगठन—राष्ट्रीयता भावुकता-प्रधान अवश्य है, किन्तु, वह कोरी भावुकता नहीं। उसमें देश को उन्नत बनाने के प्रयत्न का भाव भी लगा हुआ है। देश को उन्नत बनाने के लिए आंतरिक संघर्ष को कम करने की आवश्यकता रहती है। उसके लिए प्रेम, सहयोग और संगठन अपेक्षित हैं। उन्नति के कार्य सहयोग और संगठन चाहते हैं। 'एकला चलो रे' की बात ठीक है—सुधार-कार्यों में 'एकला' रहकर काम करना साहस का कार्य होता है, किन्तु, निर्माण-कार्यों में 'एक चना भाड़ नहीं फोड़ता' की बात अधिक ठीक है। देश-प्रेम की भावना भी तब तक निष्प्रयोजन रहती है, जब तक उसके साथ देश को उन्नत बनाने की उत्कट अभिलाषा न हो। सच्ची राष्ट्रीयता स्वकर्त्तव्य पालन करके देश के निर्माण-कार्यों में योग देना है। इसके लिए स्वदेशी व्रत भी आवश्यक है। स्वदेशी व्रत का पूरे तौर पर पालन करने के लिए उत्पादकों और उपभोक्ताओं दोनों का सहयोग चाहिए। उत्पादक लोगों को चाहिए कि वे अपने वैयक्तिक लाभ की अपेक्षा राष्ट्रीय लाभ की ओर अधिक ध्यान दें। जिस वस्तु की राष्ट्र-निर्माण के लिए आवश्यकता हो, उसी का अधिक उत्पादन करें। वे विलासिता की चीजों का उत्पादन भी कर सकते हैं, किन्तु, उनको प्राथमिकता न दी जाय। उपभोक्ता लोग भी अपने देश की बनी हुई चीजों पर गर्व करना सीखें और उनको उपयोग में लाने के लिए थोड़ा अधिक पैसा खर्च करने के लिए तैयार रहें। हम विदेशी वस्तुओं पर, वे चाहें जितनी

सुन्दर और सस्ती क्यों न हों, गर्व नहीं कर सकते। जो देश-विदेशी वस्तुओं पर निर्भर रहता है, वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता।

प्रेम और सद्भावना—भौतिक उन्नति के साथ राष्ट्रीयता के लिए देश में पारस्परिक मैत्री और सद्भावना आवश्यक हैं। किसी बड़े देश के लोगों में पूर्ण विचार-साम्य तो संभव नहीं, किन्तु, विचारों के भेद होते हुए भी दलों में पारस्परिक सद्भावना और सहयोग की भावना रह सकती है। प्रायः सभी दल अपनी सूझ-बूझ के अनुकूल राष्ट्रीय हैं। मतभेदों के साथ कुछ बातों में उनमें सहयोग भी हो सकता है। कोई दल नितांत बुरा नहीं होता है। जिन बातों में सहयोग हो सकता है, उनमें अवश्य सहयोग किया जाय, क्योंकि व्यर्थ के संघर्ष में शक्ति क्षीण होती है। पार्टी या दल की अपेक्षा देश बड़ा है। पार्टी के पीछे देश के हितों का बलिदान करना मूर्खता होगी। इसी प्रकार सिद्धान्तों की अपेक्षा मनुष्य का अधिक महत्त्व है। सिद्धान्तों के पीछे मनुष्यों की हत्या करना सिद्धान्तों को अमानवतावादी सिद्ध करना होगा। सिद्धान्तों या पार्टी के विरोध के कारण शासनाधिकारों वाली पार्टी के कामों में बाधा डालना या राष्ट्रीय संपत्ति की तोड़-फोड़ करना राष्ट्रीय अहित करना है। सरकार चाहे जिस पार्टी की हो, देश अपना है। राष्ट्रीय संपत्ति या अपनी संपत्ति का भी दुरुपयोग करना या उसे बरबाद करना राष्ट्र का नुकसान करना है। इसलिए, प्रत्येक देशभक्त को फिजूलखर्ची और अन्न आदि आवश्यक चीजों की बरबादी को रोकना चाहिए। प्रत्येक राष्ट्र-हितैषी को अपनी सम्पत्ति को भी राष्ट्रीय धरोहर समझकर उसे राष्ट्र के सेवक के रूप में अपने उपयोग में लाना चाहिए।

बाह्य उपकरण—राष्ट्रीयता से सम्बन्धित उपर्युक्त भावनाओं का पोषण करने वाले कुछ बाह्य उपकरण भी होते हैं, जो राष्ट्र

के एकता के प्रतीक कहे जा सकते हैं। राष्ट्र एक बड़ी चीज है। वह एक-साथ हमारे सामने नहीं आता। भगवान् की भाँति वह भी प्रतीकों द्वारा दृष्टिगोचर होता है। इन बाह्य उपकरणों में राष्ट्र-ध्वज, राष्ट्रगीत, राष्ट्र का मानचित्र, नदी, पर्वत, समुद्र आदि प्राकृतिक दृश्य, अतीत की गौरव गाथाएँ और भविष्य का स्वर्णिम प्रकाश, राष्ट्र की फौजी परेड आदि हमारे राष्ट्रीय पर्व, राष्ट्र की व्यवस्थापिका सभाएँ आदि संस्थाएँ और उनके गगनचुंबी विशाल भवन आदि हैं। ये राष्ट्र को एक मूर्त रूप में हमारे सामने रख देते हैं। ये हमारे राष्ट्रीय भाव के उद्दीपन का काम करते हैं। अब इनमें से मुख्य-मुख्य उपकरणों पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

झंडा—राष्ट्रध्वज हमारी एकता और गर्व ही का प्रतीक नहीं है, वरन्, वह रक्षा का भी प्रतीक है। 'झंडा ऊँचा रहे हमारा, विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' के साथ हम स्वतंत्रता-संग्राम में आगे बढ़े थे और इसकी मानरक्षा के लिए भारतमाता के वीर सपूतों ने हँसते-हँसते प्राणों की आहुति दी थी।

इस झंडे को दिल्ली के किले पर फहराने के लिए नेताजी उत्सुक थे और १५ अगस्त १९४७ को इसे दिल्ली के किले पर फहराते हुए देखकर प्रत्येक भारतवासी का हृदय गर्व और उल्लास से भर गया था। यह झंडा हमारी प्रभुसत्ता का प्रतीक बन गया है और बाजारों और राजभवनों पर यह राज्य की दी हुई सुरक्षा और शान्ति का चिह्न समझा जाता है।

हमारे राष्ट्र-ध्वज पर तीन रंग की पट्टियाँ हैं। इनके कई अर्थ लगाए जाते हैं, किन्तु, ये रंग हमारी राष्ट्रीयता के आधारभूत भावों के द्योतक हैं। लाल या केशरिया रंग ज्ञान और शौर्य का द्योतक है। सफेद शुद्धता, पवित्रता और ऋजुता का और हरा

समृद्धि और उन्नति का। अशोक-चक्र हमारे गौरवमय अतीत का, जिसके द्वारा हमने विश्व में करुणा और मैत्री का साम्राज्य फैलाया था, स्मरण दिलाता है। चक्र बौद्ध धर्म का प्रतीक माना जाता है। वह काल का भी प्रतीक है और अनंत और शाश्वत का द्योतक है। इस चक्र के २४ आरे वर्ष के २४ पाखों के द्योतक हैं। यह शाश्वत रूप से गतिशील रहता है। पहले हमारे झंडे पर चर्खे का चिह्न था, जो हमारी आर्थिक स्वतंत्रता का प्रतीक था, किन्तु, वह दोनों तरफ से एक-सा नहीं दिखाई देता था। दोनों तरफ से एकसा दिखाई देने वाला चक्र सौंदर्य की दृष्टि से भी सराहनीय है। यह झंडा है तो कपड़े का टुकड़ा, किन्तु, इसके साथ हमारा अतीत का इतिहास गुंफित है। इसने हमको स्वतंत्रता दिलाई है। इसकी हम प्राण-पण से रक्षा करें।

राष्ट्रगीत--हमारे यहाँ दो राष्ट्र गीत प्रचलित हैं। दोनों ही बंगाल की देन हैं। दोनों ही ऐसी संस्कृत गर्भित बंगला में हैं कि सारे भारत में समझे जा सकते हैं। एक है--बंकिम बाबू का 'वंदेमातरम्' गीत, जो उनके 'आनंदमठ' नाम के उपन्यास से लिया गया है और दूसरा है रविबाबू का 'जन गण मन' वाला राष्ट्रगीत, जिसको सरकारी मान्यता मिली हुई है। फिर भी स्वतंत्रता से पहले गाए जाने वाले 'वंदेमातरम्' का उतना ही मान है। वह बहुत दिनों तक हमारा उद्घोष (नारा) रहा है और अब भी उससे अच्छा नारा हम नहीं दे सके हैं। 'जयहिंद' का उद्घोष ही उसकी कुछ समता कर सकता है। 'वंदेमातरम्' और 'जयहिंद' दोनों ही हमारी एकता के प्रतीक हैं। दोनों ही राष्ट्रगीतों मे भारत की प्राकृतिक शोभा, उसकी शक्ति और उसके विस्तार की ध्वनि-प्रतिध्वनि है। रविबाबू के राष्ट्रगीत में भारत की भौगोलिक संबद्धता और प्रान्तीय भेदों में राष्ट्रीय एकता का एक विशेष आस्तिकता के साथ उद्घोष है। 'पंजाब, सिंधु, गुजरात,

मराठा, द्राविड़, उत्कल, वंग। विंध्य, हिमाचल, गंगा, यमुना, उच्छल जलधि-तरंग' में भारत का एक चित्र-सा सामने आ जाता है।

'वंदेमातरम्' में 'शुभ्र ज्योत्स्ना-पुलकति-यामिनीम्' 'फुल्ल-कुसुमित-द्रुम-दल-शोभिनीम्' द्वारा भारत की प्राकृतिक विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। 'वंदेमातरम्' में भारत की भौतिक शक्ति पर अधिक बल दिया गया है। हिन्दी में भी श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति कवियों ने 'वंदेमातरम् देशमुदारम्' आदि बहुत से राष्ट्रगान लिखे हैं। वे सभी हममें राष्ट्रीय भाव जाग्रत करते हैं। श्री मैथिलीशरणजी गुप्त की 'भारत-भारती' ने अतीत के स्वर्णिम और भविष्य के उज्ज्वल चित्र उपस्थित करके जनता में राष्ट्रीय गर्व उत्पन्न करने में बड़ा योग दिया।

इतिहास—हमारा अतीत हमारे आकर्षण का सदा से विषय बना हुआ है। यद्यपि हमारे अतीत में बहुत कुछ ऐसा है, जो हम भूल जाना चाहते हैं, तथापि उसके अधिकांश भाग में हमको ऐसे प्रकाशपुंज मिल जाते है, जो गर्व से हमारा सर ऊँचा कर देते हैं। सत्यहरिश्चन्द्र, भगवान् राम और कृष्ण, शिवि और दधीचि, सत्यमूर्ति युधिष्ठिर और वीरवर अर्जुन, भगवान बुद्ध और महावीर के पावन नामों को कौन भूल सकता है? उनकी अमर गाथाएँ आज भी जीवित है। इतिहास ही से हमको अपनी प्राचीन संस्कृति का पता चलता है। प्राचीन-काल की गौरव-गाथाएँ हमको अपने भविष्य-निर्माण के लिए प्रेरणा और स्फूर्ति देती हैं। हमारे विदेशी शासकों ने अपनी महत्ता स्थापित करने के लिए हमारे इतिहास को विकृत किया था। अब हम उन्हीं घटनाओं को अपने दृष्टिकोण से देख सकते हैं। हमारा यह अभिप्राय नहीं कि हम भी अपनी

महत्ता स्थापित करने के लिए इतिहास में तथ्यहीन बातों को आश्रय दें, किन्तु, खोजबीन के पश्चात् वास्तविकता को सामने लावें और घटनाओं और तथ्यों को अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखें।

राष्ट्रीय-नेताः—इतिहास की भाँति हमारे राष्ट्रीय-नेता भी हममें राष्ट्रीय भाव जाग्रत करने में सहायक होते हैं। उनमें उन्नति की दिशा में किए हुए हमारे प्रयत्नों की गौरव-गाथा मूर्तिमान् रहती है। धुँधला अतीत अवश्य आकर्षण रखता है, किन्तु, हम अपने वर्तमान पर जितना गर्व कर सकते हैं, उतना अतीत पर नहीं। हमारा अतीत गर्व करने योग्य अवश्य है, किन्तु, उसमें हमारा हाथ न था। वर्तमान हमारी आँखों के सामने घटा है, हमारे नेताओं ने वर्तमान में जो उन्नति की है वह शक्य और सम्भव के भीतर है, हमारे नेता हमारे चरित्र-निर्माण में सहायक होते हैं। वे हमसे आगे बढ़े हुए होते हैं, किन्तु, वे हम ही में से होते हैं। उनका चरित्र हमारे लिए स्फूर्तिप्रद होता है। उनका स्वार्थ-त्याग और आत्म-बलिदान हमारे लिए नमूने की चीजें बन जाती हैं। उनकी वाणी राष्ट्र की वाणी होती है। उनका मान राष्ट्र का मान होता है। उनकी उपासना राष्ट्र की उपासना बन जाती है। नेताओं पर अन्ध-विश्वास करना बुरा है, किन्तु, उन पर गर्व करना और उनका सम्मान करना राष्ट्रीयता का एक अंग है।

हमारे राष्ट्रीय पर्वः—ये हमारी एकता के प्रतीक हैं। भाषा, प्रान्त, धर्म, जाति के भेद वाले इस देश में हमारे राष्ट्रीय पर्व हमारे ध्येय की एकता, हमारे आदर्शों और हमारे प्राचीन और नवीन इतिहास का हमको स्मरण दिलाते हैं। वैसे तो हमारे सभी पर्व राष्ट्रीय हैं, किन्तु, कुछ विशेष रूप से राष्ट्रीय हैं। इन पर्वों पर हमारी राष्ट्रीयता के बाहरी उपकरण, राष्ट्र-ध्वज, राष्ट्रगीत, राष्ट्रीय नेता, हमारी शक्ति की प्रतीक हमारी फौजी परेड, हमारी

सांस्कृतिक झाँकियाँ हमारे सामने आती हैं। हम एक राष्ट्रीयता की लहर में आन्दोलित हो उठते हैं। हमारे देश में १५ अगस्त और २६ जनवरी राष्ट्रीय पर्व के रूप में मनाए जाते हैं। राष्ट्रीयता की दृष्टि से उनमें भाग लेना और उन अवसरों पर प्रसन्नता का अनुभव करना हमारा पुनीत कर्तव्य हो जाता है। उस समय हमको वैयक्तिक भावना छोड़कर भारतवासी होने की सामूहिक भावना से प्रेरित होना चाहिए। हम होली, दिवाली, दशहरा और संक्रान्ति, ईद और क्रिसमस अवश्य मनावें और धूमधाम से मनावें, किन्तु, वे हमको एक पवित्र सूत्र में बाँधने के लिए हममें दृढ़ता और संगठन पैदा करें, वे संगठन देश-सेवा और देशोद्धार के लिए हों, भेद-भाव बढ़ाने और मार-काट के लिए न हों।

देश में एकता बढ़ाने के और भी सम्बन्ध-सूत्र हैं, जैसे एक पंचांग, एक प्रकार की पोशाक, एक-सा खान-पान, एक राष्ट्रभाषा, किन्तु, इन सबमें एक राष्ट्रभाषा का प्रश्न विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हमारी वाणी ही द्वारा हमारा व्यवहार चलता है और हमारे सम्पर्क बढ़ते हैं। हमने राष्ट्रीय पंचांग के लिए शकसंवत् को अपनाया है। इसका चलन भारत के बहुत से भागों में है। हमको भारत के दूसरे प्रान्तों से उपयोगी बातों को ग्रहण करने में संकोच न करना चाहिए।

एक राष्ट्रभाषा:—हमारा राष्ट्र एक इकाई है, किन्तु वह भेदों की सम्पन्न इकाई है। हमारे देश में कई प्रांत या राज्य हैं, उनकी अलग-अलग भाषाएँ और बोलियाँ हैं। उनका विकास और उनकी समृद्धि हम हृदय से चाहते हैं। उनकी समृद्धि देश की समृद्धि है, किन्तु, अन्तःप्रान्तीय और केन्द्रीय व्यवहार के लिए हमको एक ऐसी राष्ट्रभाषा चाहिए, जिसके द्वारा हम अन्तःप्रांतीय और केन्द्रीय व्यवहार चला सकें। वह भाषा देश की उपज हो और उसकी

जड़ों को भारतीय संस्कृति का पोषण मिला हो। भारत में हिन्दी ही ऐसी भाषा है, जिसका संस्कृत के द्वारा अन्य भाषाओं से सम्बन्ध है और जिसके जीवनरस ने भारतीय संस्कृति के तत्त्व ग्रहण किए हैं। हम भले ही भाषाओं का विकेन्द्रीकरण करें, किन्तु, केन्द्रीकरण के सूत्र भी हाथ में रखें, नहीं तो हम लोग बिना रस्सी के लकड़ी के गट्ठे की भाँति बिखर जायँगे। यह हमारे लिए लज्जा की बात है कि एक विदेशी भाषा के माध्यम से हम अपना अन्तःप्रान्तीय व्यवहार चलावें। 'राष्ट्रीयभाषा किसी प्रांतीय भाषा को अपदस्थ नहीं करना चाहती, वरन्, वह अंग्रेजी का स्थान लेना चाहती है। इस समय वह चाहे अंग्रेजी के बराबर सम्पन्न न हो, किन्तु वह अपने देश की है। वह हमको एकता के सूत्र में बाँध सकती है।

हमारी राष्ट्रीयता की विशेषता—हमारी राष्ट्रीयता यूरोप की भाँति आक्रमणकारी नहीं है। वह अहिंसात्मक है। हमको अपनी 'भुवनमनमोहिनी' भारत-भूमि पर गर्व है। 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोसतां हमारा'। किन्तु, हम दूसरों को भी घृणास्पद नहीं समझते। हमारी राष्ट्रीयता रंग-भेद, जाति-भेद, धर्म और संप्रदाय-भेद पर आश्रित नहीं है। वह सत्य और अहिंसा एवं समता और स्वतन्त्रता की एकध्येयता पर आश्रित है। 'जियो और जीने दो' हमारे पंचशील का मूल सूत्र है। हमारी राष्ट्रीयता अनेकता में एकता लाने के लिए है दूसरों को अपने से पृथक् करने के लिए नहीं। हमारी राष्ट्रीयता ने 'सर्वेभद्राणि पश्यंतु' का पाठ पढाया है और वह विश्वमैत्री पर आधारित है।

"प्राचीन भारत का वैभव उसकी पार्थिव क्षमता नहीं था यद्यपि उसकी यह क्षमता भी खूब बढ़ी चढ़ी थी। प्राचीन भारत का गौरव आज तक अक्षुण्ण है और वह है उसका आत्मिक विकास। उसके लिए आत्मा ही दृष्टव्य, मन्तव्य और श्रोतव्य था। उसने

दूसरे देशों में राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। यही नहीं, किन्तु उसने दूसरों को भी अपने बृहत समाज में मिला लिया।

बात यह है कि जब तक मनुष्य मनुष्यत्व का आदर नहीं करेगा तब तक संसार में युद्ध होता ही रहेगा। बसुधा एक कुटुम्ब तभी हो सकती है जब मनुष्य मनुष्य से स्नेह रखेगा। आधुनिक सभ्यता ने मनुष्यों का मनुष्यत्व नष्ट कर दिया है।"

—श्री पदुम लाल पुन्ना लाल बख्शी

२

भारत की राष्ट्रीय एकता

हे मेरे मन ! पुण्य तीर्थ में जागो मंथर
इसी महामानव-सागर भारत के तट पर
यहाँ खड़े हो, बाहु बढ़ा, कर नरदेवार्चन
आनन्दित उदार छन्दों में गाओ वन्दन
ये गम्भीर ध्यानरत भूधर
नदी-सुमिरिनी-धारे प्रान्तर

बिमल भूमि यह नित्य निहारो तुम श्रद्धा-भर
इसी महामानव-सागर भारत के तट पर !

क्या जाने किस आवाहन पर यह जन-धारा
किन स्रोतों से फूट हुई सागर में हारा
आर्य-अनार्य-पठान - मुगल - द्राविड़ - शक - चीन
हुए यहाँ सब के सब एक देह में लीन

खोला अब पश्चिम ने द्वार
लाते हैं बहुजन उपहार
देंगे लेंगे, यहीं रहेंगे सब घुल-मिलकर
इसी महामानव-सागर भारत के तट पर !

× × × ×

आओ, आर्य-अनार्य-मुसल्मां-हिन्दू भाई !
आओ हे अंग्रेज, आज आओ ईसाई !!
आओ ब्राह्मण, निर्मल, मन, सबका कर धारो
आओ पतित ! निरादर का यह भार उतारो
परस-पवित्र तीर्थ जल से भट
भर दो, भरदो यह मंगल घट
आओ जननी के अभिषेक पर्व में सत्वर
आज महामानव-सागर भारत के तट पर !

मूल : रवीन्द्रनाथ
अनुवादक : भारतभूषण अग्रवाल

'वन्दे भारत देशमुदारम्'

India is one in spirit, however diverse in race and creed. Differences of language have not been an impediment in the growth of a common cultural outlook.

—S. Radhakirshnan.

देश की इकाई राष्ट्रीयता का एक आवश्यक उपकरण है। भारत भूमि की नदियों के प्रवाह को प्राकृतिक विभाजन रेखाएँ बतलाकर तथा भाषा और धर्मों एवं रीति रिवाजों के भेद को आधार बनाकर हमारी राष्ट्रीयता के विचार को खण्डित करने के अर्थ हमारे कुछ हितचिन्तक इस देश को देश न कहकर एक उप-महाद्वीप (Sub-Continent) कहते हैं। हमारी राष्ट्रीयता को चुनौती देने के निमित्त उत्तर-दक्षिण, अवर्ण-सवर्ण, हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, जैन के भेद खड़े करके हमारी संगठित इकाई को क्षति पहुंचाई गई। भाषा का भी बवण्डर उठाया गया ताकि आपसी झगड़ों और भेद-भाव में हमारी शक्ति का ह्रास हो और विदेशी शासकों का राज्य अटल बना रहे।

पहले तो प्रायः सभी देशों में जाति, भाषा और धर्मगत भेद हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में ही कई जातियाँ हैं। वहाँ भाषाएँ भी कई बोली जाती हैं किन्तु एक केन्द्रीय भाषा सबको मिलाए हुए है। स्विट्जरलैंड में जर्मन, फ्रांसीसी तथा इटालवी तीन भाषाएँ बोली जाती हैं फिर भी वह एक सुसंगठित राष्ट्र है। चीन में कई धर्म हैं। इङ्गलैंड, कनेडा, आस्ट्रेलिया एक भाषा-भाषी होते हुए भी वे भिन्न-भिन्न राष्ट्र हैं। जिस देश में भेद नहीं उसकी इकाई शून्य या गणित शास्त्र की इकाई की भाँति दरिद्र इकाई है। सम्पन्नता भेदों में ही है। किन्तु भेद इतने न होने चाहिए कि उनमें सामंजस्य न रहे। (विभक्त में अविभक्त को देखना ही श्रीमद्भगवद् गीता में सात्विक ज्ञान का आदर्श माना गया है:—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥)

जिस ज्ञान के द्वारा सब प्राणियों में एक ही परमात्मा को देखता है और जिसके द्वारा विभक्त (बँटे हुए में) एक ही अविभक्त दिखाई पड़ता है उसे सात्विक ज्ञान समझो।

वैसे तो (केंचुआ भी एक इकाई है, उसमें आँख, कान, नाक और हाथ, पैर के भेद नहीं, केवल एक ही स्पर्शेन्द्रिय सारी ज्ञानेन्द्रियों का प्रतिनिधित्व करती है) किन्तु क्या उसका जीवन सम्पन्न कहा जावेगा? मनुष्य अपने अवयवों के बाहुल्य और उनके समायोजन और संगठन के कारण जीवधारियों में सबसे अधिक विकसित और श्रेष्ठ गिना जाता है।

भेदों के अस्तित्व से इनकार करना मूर्खता होगी और उनकी उपेक्षा करना अपने को धोखा देना होगा। हमारे समाज में भेद और अभेद दोनों ही हैं। हमारे शासकों ने अपने स्वार्थवश हमारे

भेदों को अधिक विस्तार दिया जिससे हमारे देश में फूट की बेल पनपे और इस भेद नीति से उनका उल्लू सीधा हो। हमारे अभेदों की उपेक्षा की गई या उनको नगण्य समझा गया। हममें हीनता की मनोवृत्ति पैदा की गई। देश की नदियाँ, जिनको विभाजन रेखाएँ कहा जाता है, हमारी भूमि को उर्वरा और 'शस्य-श्यामला' बनाती हैं। हमारी भौगोलिक इकाई हिमालय पर्वत और सागर से है। उसे छिन्न-भिन्न किया गया है। इसमें कुछ राजनैतिक स्वार्थ भी सहायक हुए। प्राचीन काल में राष्ट्रीयता की धारा अबाधित तो नहीं रही है, आन्तरिक द्वेष कभी-कभी प्रबल हो उठे हैं किन्तु भारतवासी एक-क्षत्र सार्वभौम राज्य से अपरिचित न थे। राजकीय अश्वमेध, वाजपेय यज्ञ ऐसे ही राज्य की स्थापना के ध्येय से किये जाते थे। इनके द्वारा टूटी हुई राष्ट्रीय एकता जुड़कर अविरल धारा का रूप धारण कर लेती थी।

राजनीति की अपेक्षा धर्म और संस्कृति मनुष्य के हृदय के अधिक निकट हैं। यद्यपि राजनीति का सम्बन्ध भौतिक सुख-सुविधाओं से है तथापि जन साधारण जितना धर्म से प्रभावित होता है उतना राजनीति से नहीं। हमारे भारतीय धर्मों में भेद होता हुआ भी उनमें एक सांस्कृतिक एकता है जो उनके अविरोध का परिचायक है। वही त्याग और तप एवं मध्यम मार्ग की संयममयी भावना हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख सम्प्रदायों में समान रूप से वर्तमान है। एक धर्म के आराध्य दूसरे धर्म में महापुरुष के रूप में स्वीकार किये गये हैं। भगवान् बुद्ध तो अवतार ही माने गये हैं 'कलियुगे कलि प्रथम चरणे बौद्धावतारे' कह कर प्रत्येक धार्मिक संकल्प में हम उनका पुण्य स्मरण कर लेते हैं। भगवान ऋषभ देव का श्रीमद्-भागवत् में परम आदर के साथ उल्लेख हुआ है। जैन धर्म ग्रंथों में भगवान राम और कृष्ण को तीर्थङ्कर नहीं तो उनसे एक श्रेणी नीचे का स्थान मिला है। अन्य हिन्दू देवी देवताओं को भी उनके देव

मंडल में स्थान मिला है। भारतोद्भव प्रायः सभी धर्म आवागमन में विश्वास करते हैं।

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की शिक्षा हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म में समान रूप से प्रतिष्ठित है। स्वास्तिक चिह्न और ॐकार मंत्र हिन्दुओं और जैनों में समान रूप से मान्य हैं। कमल और हाथी तथा अश्वत्थ वृक्ष (पीपल) बौद्धों और हिन्दुओं में एक रूप से पूजनीय माने जाते हैं। जैनों के अणुव्रत हिन्दू धर्म के योग शास्त्र में 'यम' और बौद्धों के पंचशील प्रायः एक ही हैं। पारसियों और हिन्दुओं में अग्नि की पूजा समान रूप से होती है। जेन्दावेस्ता की गाथाओं और वैदिक ऋचाओं में भाषागत समानता है। पारसी लोग गोमाँस नहीं खाते।

सिख गुरुओं ने हिन्दू धर्म की रक्षा में योग ही नहीं दिया है वरन् उसके लिए कष्ट और अत्याचार भी सहे हैं। उन्होंने, विशेष कर गुरुनानक और गुरुगोविन्द सिंह ने, हिन्दी में कविता की है। उनके धर्मग्रंथों में राम नाम की महिमा गाई गई है। गोविन्द सिंह ने चण्डी (दुर्गादेवी) का भी स्तवन किया है। गुरु ग्रन्थ साहब में कबीर आदि महात्माओं की वाणी आदर के साथ सुरक्षित है, उसका नित्य पाठ होता है। सिखों के गुरु लोग हमारे सन्तों में अग्रगण्य समझे जाते हैं और उनका आदर के साथ स्मरण किया जाता है।

मुसलमान और ईसाई धर्म एशियाई धर्म होने के कारण भारतीय धर्मों से बहुत कुछ समानता रखते हैं। योरोप से भी पहले ईसाई धर्म को दक्षिण भारत में स्थान मिला है। कुछ लोगों का तो कहना है कि स्वयं ईसा ने भारत में ही शिक्षा पाई थी। ईसा मसीह का 'Do unto others as you would have others do to

you.' महाभारत के 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत' का ही पर्याय है। गीता की आत्मौपम्य दृष्टि की भी यही शिक्षा है। ईसाइयों की क्षमा और दया बौद्ध धर्म से मिलती जुलती है। यह मैं नहीं कहता कि किसने किस से लिया परन्तु इन मौलिक सिद्धान्तों में हिन्दू, बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म में समानता है। रोमन केथोलिकों की पूजा, अर्चा, धूप, दीप आदि व्रत, उपवास हिन्दुओं के से हैं।

मुसलमानी धर्म में ईश्वर के प्रति आत्म समर्पण रूपी धर्म की मूल भावना जो हिन्दू, सिख, पारसी, जैन धर्मों को भी अनुप्राणित करती है, पूर्णतया वर्तमान है। व्रत, उपवास, नामस्मरण आदि हिन्दुओं के समान मुसलमानों में भी है। मुसलमान लोग भी जूते उतार कर, हाथ मुँह धोकर नमाज पढ़ते हैं। तीर्थ स्थानों, जो भारत में भी हैं (अजमेर, शरीफ आदि), की ज्यारत में विश्वास रखते हैं। अधिकांश मुसलमान और ईसाइयों का रुधिर भारतीय है और वे भारत की जलवायु में ही पले हैं। खान-पान में रोटी-दाल, चावल सभी साधारण लोग एक सा खाते पीते हैं। मुसलमानों और ईसाइयों ने यहाँ की संस्कृति को प्रभावित किया है और वे यहाँ की संस्कृति से प्रभावित हुए है। सूफी कवियों ने वेदान्तिक भावभूमि को अपनाया है और उनके ग्रंथों में हिन्दू-परम्पराओं, कथाओं, विचारों, देवी-देवताओं और प्रतीकों का समावेश हुआ है। तानसेन और ताज पर हिन्दू मुसलमान समान रूप से गर्व करते हैं। भक्त प्रवर महात्मा सूरदासजी ने गायनाचार्य तानसेन की प्रशंसा में कहा है "भली करी विधिना, शेषहि दिये न कान, धरा मेरु सब डोलते, सुन तानसेन की तान'। कबीर, जायसी, रहीम, रसखान, रसलीन आदि अनेकों मुसलमान कवियों ने अपनी वाणी से हिन्दी की रसमयता बढ़ाई है। रसखान के सवैये तो सचमुच रस की खान ही हैं। इन्हीं कवियों के सम्बन्ध में भारतेन्दु जी ने

कहा है 'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन वारिए ।' मुसलमान गायक भी कृष्ण-कन्हैया के गीत गाते हैं । एकताएँ देखी जायँ तो बहुत सी हैं, किन्तु उनकी जान-बूझ कर उपेक्षा की जाय तो दूसरी बात है ।

भारत के हिन्दू धर्म ने धर्म सहिष्णुता सिखाई है : 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' । सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेखों में धार्मिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया है । "जैसा अवसर हो उनके अनुकूल दूसरे के धर्म का भी आदर करना चाहिए। इस प्रकार अपना धर्म भी बढ़ता है और दूसरे धर्म का भी उपकार होता है जो इसके विपरीत आचरण करता है वह अपने धर्म को क्षति पहुँचाता है और दूसरे धर्म का भी अपकार करता है ।" जो धर्म ईश्वर की सन्तान से मेल नहीं सिखाता वह ईश्वर को प्रसन्न नहीं कर सकता । इन धर्मों में वैविद्य होने के कारण भारतवासियों के जीवन और उनकी विचार धारा में सम्पन्नता आई है और उनकी कला समृद्ध हुई है । उस समृद्धि का श्रेय हिन्दू मुसलमान दोनों को ही है ।

प्राचीन काल से भारतीय धर्म और साहित्य ने राष्ट्रीय एकता का पाठ पढ़ाया है । सभी काव्य ग्रन्थ चाहे वे उत्तर के हों चाहे दक्षिण के, रामायण और महाभारत को अपना प्रेरणा स्रोत बनाते रहे हैं । संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के आम्नाय और काव्य ग्रन्थ उत्तर-दक्षिण में समान रूप से मान्य हैं । कालिदास के रघुवंश और भवभूति के उत्तररामचरित में उत्तर और दक्षिण के प्राकृतिक दृश्यों का बड़ी रसमयता के साथ वर्णन आया है ।

संस्कृत का एकीकरणात्मक प्रभाव स्वीकार करते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है:—'इस भाषा (संस्कृत) में न केवल ऊँचे से ऊँचे विचार और सुन्दर से सुन्दर साहित्य की

रचना हुई बल्कि इसने सारे देश को एकता की कड़ी में बाँधे रखा जो कि बहुत से राज्यों में बँटा था।' हिन्दू तीर्थाटन में धार्मिक भावना के साथ राष्ट्रीय भावना भी निहित है। शिव भक्त ठेठ उत्तर पथ की गंगोत्री से जाह्नवी जल लाकर दक्षिण सीमा के रामेश्वरम् महादेव का अभिषेक करते हैं। उत्तर में बदरी-केदार, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में जगन्नाथ, पश्चिम में द्वारिकापुरी के तीर्थाटन में भारत की चारों दिशाओं की पूजा हो जाती है। साधारण जल को तीर्थ जल की पवित्रता प्रदान करने के अर्थ नीचे लिखी सात नदियों का आह्वान किया जाता है :—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन सन्निधिंकुरु॥

इन नदियों में उत्तर-दक्षिण का भेद नहीं किया गया है। नदियों की पवित्रता में धार्मिक महत्व के साथ राष्ट्रीय महत्व भी लगा हुआ है। इसी प्रकार सात पुरियाँ पवित्र और मोक्षप्रद मानी गई हैं। इनकी भी यात्रा की जाती है और प्रातः स्मरण भी किया जाता है। उनके नाम हैं:—अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, काञ्ची, अवन्तिका (उज्जयनी), द्वारावती (द्वारिका)। पूरा श्लोक इस प्रकार है :—

अयोध्या मथुरा माया, काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव, सप्तैता मोक्षदायिका:॥

इसमें भारत माता का पूरा स्वरूप उतर आता है। इन पुरियों की वन्दना भारत माता की अर्चना है। हिन्दू परम्परा में मान्य चार सरोवर, उत्तर में मान सरोवर, दक्षिण में पम्पासर जिसका वर्णन रामचरितमानस में भी आया है और पूर्व में तथा पश्चिम में विन्दु और नारायण भारत की चारों दिशाओं को पवित्र करते हैं। तीर्थ स्थानों की पूजा भगवान के विराट् रूप की

पूजा है। (स्वामी शङ्कराचार्य ने भारत की चारों दिशाओं में अपने मठ स्थापित किये थे। उत्तर में ज्योतिर्मठ, दक्षिण में शृङ्गेरी मठ, पूर्व में गोवर्धन मठ और पश्चिम में शारदा मठ। ये भगवान शङ्कराचार्य की दिग्विजय के कीर्ति स्तम्भ ही नहीं वरन् भारत की एकता के भी परिचायक चिह्न हैं।) दक्षिण के अन्य आचार्यों की सम्प्रदायें अविरोध भाव से उत्तर में फली-फूलीं और विकसित हुईं। बङ्गाल के चैतन्य महाप्रभु की भी सम्प्रदाय ने मथुरा-वृन्दावन में अपनी शिष्य-परम्परा स्थापित की। इन सम्प्रदायों के मन्दिर बने और इनकी पूजा अर्चा ने उत्तर प्रदेश के जीवन और साहित्य को प्रभावित किया। हिन्दी साहित्य गगन के सूर्य और शशि स्वरूप सूर और तुलसी दक्षिण की सम्प्रदायों से ही प्रभावित थे। ये सब एकता के सूत्र प्राचीन ही थे (पश्चिम की सौगात न थे) किन्तु उनकी उपेक्षा की गई।

अब भाषा का प्रश्न आता है। उत्तर भारत की प्रायः सभी भाषाएँ संस्कृत से निकलती हैं और उनके सभी शब्दों में एक पारिवारिक समानता है। दक्षिण की भाषाएँ भी संस्कृत से प्रभावित हुईं। उन्होंने भी थोड़ी-बहुत मात्रा में संस्कृत की शब्दावली ग्रहण की, किसी ने थोड़ी तो किसी ने बहुत। उर्दू को छोड़ कर प्रायः सभी भाषाओं की वर्णमाला एक नहीं तो एक-सी है। केवल लिपि का भेद है। 'मराठी और देव नागरी की लिपि भी समान है। संस्कृत की परिनिष्ठित लिपि होने के कारण देव नागरी प्रायः सभी प्रान्तों में पहचानी जाती है। उर्दू का लिपि भेद होते हुए भी हिन्दी के साथ भाषा में साम्य है। भाषा की जमीन और व्याकरण प्रायः एक-सी है। बेल-बूटे फारसी अरबी के हैं। मुंशी प्रेमचन्द, अश्क, सुदर्शन, कृष्णचन्द ने हिन्दी में भी लिखा और उर्दू में भी। पहले इतना द्वेष और भेद नहीं था जितना कि अब बढ़ गया है। भारत की प्रायः सभी भाषाओं का साहित्य भगवान राम

और कृष्ण की पावन गाथाओं से आप्लावित रहा है, सभी ने सन्तों और शिवाजी, छत्रसाल, महाराणा प्रताप, रणजीतसिंह आदि वीरों का स्तवन किया है। सभी भाषाओं के साहित्य ने भारत की सम्मिलित राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डाला है। सभी ने 'भुवनमन-मोहनी' भारत माता का यश गान किया है। कवीन्द्र-रवीन्द्र ने उल्लास भरे शब्दों में कहा 'प्रथम प्रभात उदय तव गगने, प्रथम साम रव तव तपो बने।' सभी भाषाओं के साहित्य ने स्वतंत्रता की लड़ाई में योग दान दिया है। भाषाओं का भेद रहता हुआ भी विचारों की एकध्येयता रही है। देश के महापुरुष प्रान्तीय भाव दूर करने में विशेष रूप से सहायक हो रहे हैं। महात्मा गांधी, कवीन्द्र-रवीन्द्र, जगदीशचन्द्र वसु, सी० वी० रमन, तिलक, नेताजी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, जवाहरलाल नेहरू, सरदार बल्लभ भाई पटेल सारे भारत के पूज्य हैं। सारे भारत को उन पर गर्व है। वे एक प्रकार से भारतीय एकता के दृढ़ सूत्र हैं।

भाषाओं में भेद रहा अवश्य है, किन्तु उनकी पार्थक्य रेखायें इतनी पुष्ट और दृढ़ न थीं जितनी अब हैं। भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य का धूमिल इतिहास घुला-मिला-सा प्रतीत होता है। उनके बीच कोई अभेद्य दीवार न थी। मीरा गुजराती और हिन्दी की समान रूप से कवियित्री मानी जाती हैं। मीरा के गीतों से बङ्गाल भी प्रभावित हुआ है। भूषण की वाणी का महाराष्ट्र में भी आदर हुआ था। सन्त तुकाराम आदि महाराष्ट्र सन्तों ने अपनी कविता में हिन्दी को भी अपनाया। विद्यापति समान रूप से हिन्दी, मैथिली और बङ्गला के कवि माने जाते हैं। कबीर, दादू आदि सन्तों का व्यापक प्रभाव रहा है। उन्होंने अपने एक तारा की तान में सारे भारत को बांध दिया। तुलसीकृत रामायण का मराठी और बङ्गला में भी अनुवाद हुआ। सूरदासजी के भजनों

को प्रायः सभी प्रान्त के गवैयों ने अपनाया। बङ्गला के 'वन्दे मातरम्' और 'जन-गण-मन' राष्ट्रीय गीत बने। अनुवादों द्वारा भाषाओं का आदान-प्रदान हो रहा है। राष्ट्रभाषा के नाते हिन्दी ने अपने में सबसे अधिक अनुवाद किये हैं। दक्षिण के लोग बड़े प्रेम से हिन्दी का अध्ययन करते हैं और हिन्दी वाले भी यथा-सम्भव दूसरी भाषाओं को सीखने का उद्योग कर रहे हैं। एक दूसरे को भाषा के समझने के जो प्रयत्न चल रहे हैं उनको प्रोत्साहन देना आवश्यक है।

वेश-भूषा, रहन-सहन और शकल-सूरत में भेद होते हुए भी भारतवासी अपने जातीय व्यक्तित्व से पहचान लिये जाते हैं। यद्यपि शिक्षित पुरुष वर्ग यूरोपीय पोशाक को अधिक अपनाये हुए हैं फिर भी जन-साधारण में धोती, लुंगी का प्रचलन बहुतायत से है। स्त्रियों में तो साड़ी की प्रधानता है। औपचारिक अवसरों पर शिक्षितों में चूड़ीदार पाजामा, बन्द गले का कोट चलन पाता जा रहा है और अनौपचारी रूप से ढीला पाजामा और कुर्त्ता व्यवहार में आता है। अँग्रेजी पोशाक में भी हिन्दुस्तानी छिपता नहीं है।

(हमारा एक जातीय व्यक्तित्व है। वह हमारी जातीय मनोवृत्ति, जीवन मीमांसा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, उठने-बैठने के ढंग, चाल-ढाल, वेश-भूषा, साहित्य-संगीत और कला में अभिव्यक्त होता है। विदेशी प्रभाव पड़ने पर भी वह बहुत अंशों में अक्षुण्ण बना हुआ है। वही हमारी एकता का मूल सूत्र है।)

आए, हिन्दु, सिक्ख, मुसलमान, ब्रह्मों, जैनी, सत बुद्धि बुद्ध।
तथा पारसी, यहूदि, ख्रिश्चियन, पूर्व देश के वासी शुद्ध॥
धरो परस्पर मित्र भावना, देशबन्धु सब करके सम्प।
एक रक्तधारी भ्राताओ, उपजाओ अरि मन में कम्प॥

शूरवीर भारत भू पुत्रो, शौर्यपूर्ण करके निज अंग।
जय घोषण से नभ गर्जाओ, बदलाओ भारत का रंग ।।

—चम्पालाल जौहरी 'सुधाकर'

"यदि हम अपने देश के प्राचीन साहित्य को देखें, तो उसमें एक मूलभूत एकता दिखायी देगी। इसका एक बड़ा प्रमाण यह है कि हमारे कतिपय महान् साहित्यिकों के जन्म स्थान का पता न होने पर भी समस्त प्रान्तों में उनका प्रचलन है, और उन्हें समान सम्मान प्राप्त है। वाल्मीकि के कार्यक्षेत्र का निर्देश कर भी दिया जाय, तो भी व्यक्ति का व्यक्तित्व और उनकी इयत्ता तो अज्ञात ही रहेगी। फिर भी सारा देश उन्हें अपना समझता है। कालिदास की भी प्रायः ऐसी ही स्थिति है। विभिन्न प्रान्तों के पंडित उन्हें अपनी-अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु कालिदास वास्तव में किसी प्रान्त के कवि नहीं थे, वे समस्त भारत के कवि हैं।

हमारे देश में विविधता में एकता लाने की चेष्टा चिरकाल से की गई है, और इस कार्य में हमारे साहित्यिकों ने विशेष योग दिया है। वैदिक साहित्य के द्वारा सारे देश में एक-सी धार्मिक भावना, एक-सी यज्ञ पद्धति और एक-सा दार्शनिक आधार प्रतिष्ठित हुआ था। आज भी भारतीय गृहों में वैदिक संस्कार विधियाँ प्रचलित हैं।

× × × ×

शैलियाँ और कलमें बदली हैं। इतने बड़े देश में उनका बदलना स्वाभाविक और अवश्यम्भावी था। परन्तु मौलिक रूप से एक समानता समस्त देश में विद्यमान रही है। हिन्दी का कवि भूषण दक्षिण के सम्राट् शिवाजी के प्रशस्ति गान में तत्पर हुआ। इसी प्रकार गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल के कवि ब्रजभाषा में कृष्ण लीलाओं का गान कर रहे थे। प्रादेशिक भिन्नता का भाव इस देश की प्रकृति में नहीं रहा।"

—श्री पं० नन्ददुलारे वाजपेयी

३

राष्ट्रीय गौरव की चेतना और राष्ट्रीय शिक्षा

बसते वसुधा पर देश कई ।
जिनकी सुखमा सविशेष नई ।।
पर भारत की गुरुता इतनी ।
इस भूतल पै न कहीं जितनी ।।

× × ×

कवि पण्डित वीर उदार महा ।
प्रकटे मुनि धीर अपार यहां ।
लख के जिनकी गति के मग को ।।
गुरु ज्ञान सदा मिलता जग को ।।

× × ×

शुचि शौर्य कथा इतनी किसकी ?
जग विश्रुत है जितनी इसकी ।।
अमरों तक का यह मित्र रहा ।
अति दिव्य चरित्र पवित्र रहा ।।
ध्रुव धर्ममयी इसकी क्षमता ।
रखती न कहीं अपनी समता ।।
अतएव इसे भजिए भजिए ।
जननी पर प्रेम नहीं तजिए ।।

—अज्ञात

"गायन्ति देवाः किल गीतिकानि
धन्यास्ते भारतभूमिभागाः ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥"

वैर और मित्रता की भाँति राष्ट्रीयता भी एक भाववृत्ति (सेन्टीमेंट) है, वह क्रोध और शोक के सदृश एक क्षणिक आवेग नहीं है। ये भाववृत्तियाँ प्रायः संकुल होती हैं, उनमें बहुत से भाव शामिल रहते हैं। ये जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण और कार्यकलाप को निर्धारित करती रहती हैं। राष्ट्रीयता के साथ राष्ट्रीय गर्व लगा हुआ रहता है। यह उसका एक आवश्यक अंग है, जो उससे प्रेरित कार्यों को गति देता है और उससे सम्बन्धित भावों में ओज लाता है। राष्ट्र निर्माण, उसके उत्थान और उसकी रक्षा में जो उत्साह और उल्लास एवं कार्यशीलता रहती है, उसको अनुप्राणित करने वाली यही राष्ट्रगौरव की भावना है। यही 'स्वर्गादपि गरीयसी जननी जन्मभूमि' की आन-बान-शान को स्थित रखने के अर्थ रणक्षेत्र की बलिवेदी पर प्राणों की आहुति देने को प्रेरित करती है। यही प्रेरक शक्ति मानव प्रतिभा को ब्रह्मानन्द सहोदर सरस एवं संजीवनी रसायन शक्ति से परिपूर्ण साहित्य सृजन और दैवी चमत्कारों से स्पर्द्धा करने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों को अस्तित्व में लाने के अर्थ नया उन्मेष प्रदान करती है। यही शोक, अत्याचार, अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाने और भ्रष्टाचार के विरुद्ध नैतिक बल प्रदान करती है। यही भावना गहन और बीहड़ वनों और गम्भीर तूफानी समुद्रों के आलोड़न-विलोड़न और गर्जन-तर्जन को चिनौती दिलाती है और यही पर्वतारोहियों को गगनचुम्बी हिमाच्छादित शैल शृंगों की मृत्यु मुख में प्रवेश कराने वाली भयावनी दुरूहता को तिरष्कृत करने की स्फूर्ति प्रदान करती है। यही मनोवृत्ति साहसी वैज्ञानिकों को अन्तरिक्ष विजय कर मनोजव से

(मन के वेग से) तो नहीं मारुत तुल्य वेग से कुछ अधिक तेज शब्द गति से ले जाने वाले यानों द्वारा कल्पना की उड़ान से भी दूर तारामण्डल से सम्पर्क स्थापित करने की प्रेरणा प्रदान करती है। जो-जो कार्य राष्ट्र के अभ्युदय और उत्थान में योग देते हैं, उन सबके मूल में यही राष्ट्र गौरव की भावना विद्यमान रहती है।

राष्ट्रीय गर्व उस सामूहिक और वैयक्तिक चेतना को कहते हैं, जिसके वश हम प्रसन्नता और उल्लास के साथ यह अनुभव करते हैं कि हम एक महान् शक्तिशाली और समुन्नत देश के नागरिक हैं, वह देश अपना है और हम उसके हैं। उसकी शक्ति 'परेषां पीड़नाय' नहीं वरन् 'परेषां रक्षणाय' है। उस चेतना के साथ देश में उत्तम से उत्तम स्थिति लाने के लिए उत्साह और तत्परता भी रहती है उसको धन-धान्य से सम्पन्न और आत्म निर्भर बनाना अपना मधुर कर्त्तव्य और उसको वैज्ञानिक उन्नति के क्षेत्र में अग्रसर समझना, सम्मान्य धर्म समझना, इसी गर्व की भावना का परिणाम है। यह प्रवृत्ति भी रहती है कि जहाँ जिस क्षेत्र में देश की उन्नति होगी उससे हमें प्रसन्नता होगी। देश के लोगों के सम्मान से हम ईर्ष्या न कर अपना और देश का सम्मान समझेंगे और देश या किसी देश-वासी के अपमान को अपना अपमान समझेंगे। जिस प्रकार से वैयक्तिक स्वाभिमान होता है उसी प्रकार राष्ट्रीय आत्म सम्मान होता है। राष्ट्रीय झंडा, राष्ट्र गीत, देश का विधान और जो-जो चीजें राष्ट्र की प्रतीक समझी जाती हैं उन सबका तथा देश की भाषा, वेशभूषा, रहन-सहन, रीतिरिवाज और मान्य संस्थाओं को आदर की दृष्टि से देखना और उनके अपमान को सहन न करना राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा है। यह रक्षा भी राष्ट्रीय गौरव में शामिल है। हमारा गौरव भारत भूमि की नैसर्गिक सुषुमा और भौतिक शक्ति पर ही नहीं है वरन् उसके उच्च आदर्शों, प्रेम और सम्मान की भावनाओं, विश्व शान्ति के उद्योगों पर भी है। ये आदर्श

ही उसकी आत्मा हैं। दिनकर जी सद्गुणों में ही भारत की झाँकी देखते हैं—

जहाँ कहीं एकता अखंडित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश-देश में खड़ा वहाँ भारत जीवित भास्वर है।
भारत वहाँ, जीवन साधना नहीं है भ्रम में,
धाराओं का समाधान है मिला हुआ संगम में।
जहाँ त्याग माधुर्यपूर्ण हो, जहाँ भोग निष्काम,
समरस हो कामना वही भारत को करो प्रणाम॥

राष्ट्रीय गौरव में शामिल हैं राष्ट्रीय झंडा, राष्ट्र गीत, देश का विधान और जो-जो चीजें राष्ट्र की प्रतीक समझी जाती हैं, उन सबका तथा देश की भाषा, वेश-भूषा और रहन-सहन, रीति-रिवाज और मान्य संस्थाओं को आदर की दृष्टि से देखना।

इस स्वाभिमान और गौरव की भावना का अभाव देश की उन्नति में बाधक होता है। (जब तक हम में देश की एकता की भावना जो राष्ट्रीयता का मुख्य अंग है, नहीं आएगी तब तक हम में भावों की संकुचितता रहेगी और हम अपने क्षेत्र के बाहर की उन्नति में प्रसन्नता और संतोष प्रकट न कर सकेंगे। विकास की योजनाएँ, राष्ट्र-गौरव जन्य उत्साह के अभाव में सफल न हो सकेंगी। राष्ट्र-गौरव के अभाव में न हम में वह उत्तरदायित्व की भावना आएगी जो उन्नति और कार्यक्षमता के लिए आवश्यक है और न वह ईमानदारी की भावना आएगी जो राष्ट्रीय चरित्र निर्माण और सामूहिक सफलता के लिए अनिवार्य है।)

राष्ट्रीयता के बाधक तत्व—अनधिकार पूर्ण सुख-सुविधाओं की माँग, सहकारी चीजों के दुरुपयोग, भ्रष्टाचार-अनाचार, कामचोरी प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता आदि राष्ट्रीय गौरव के अभाव में ही

पनपते हैं। हमारे बढ़ते हुए उत्तरदायित्व की गौरवपूर्ण चेतना सुधार और राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों के पालन करने की प्रेरणा देती है।

राष्ट्रीय भाववृत्ति प्रत्येक व्यक्ति में थोड़ी बहुत मात्रा में सहज होती है, किन्तु स्वार्थ बुद्धि और कुसंस्कार उसे दबा लेते हैं। शिक्षा दीक्षा द्वारा इस चेतना की वृद्धि और पुष्टि हो सकती है। हमारे राजनीतिक और सामाजिक कर्त्तव्य और अधिकार, पारस्परिक सम्बन्ध, वैयक्तिक और जातिगत मूल्यों की अपेक्षा राष्ट्रीय मूल्यों को वरिष्टता, विकास की आयोजनाओं की गति विधि और उनके पूरा करने की आवश्यकता, हमारे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और उनसे उत्पन्न होने वाले नए उत्तरदायित्व, हमारे आर्थिक राजनीतिक प्रश्न, बाजार भावों के उतार चढ़ाव की जानकारी, उत्पादन और वितरण की समस्याएँ, भिन्न-भिन्न दलों के राजनीतिक और सामाजिक आदर्शों की टकराहट और उनमें साम्य स्थापित करने के उपाय आदि इन सब बातों का ज्ञान राष्ट्रीय चेतना को पुष्ट करने के लिए सहायक होगा। राष्ट्रीय भावना यथार्थ ज्ञान और अनुशीलन से बढ़ती और पुष्ट होती है। यह ज्ञान हमको उचित शिक्षा और सरकारी प्रचार द्वारा मिल सकता है।

हमारी शिक्षा में हमारे मस्तिष्क को ज्ञान-विज्ञान का भंडार बनाने की तो प्रवृत्ति है, किन्तु हममें जानकारी बढ़ाने के साथ हममें वह भावनाएँ उत्पन्न नहीं की जातीं, जो उदार दृष्टिकोण का निर्माण कर हमको सब चीजों के [illegible] महत्व आँकने की प्रेरणा दें और उसके अनुकूल कार्य करने की स्फूर्ति और क्षमता प्रदान करें। हमारी शिक्षा में राष्ट्रीय दृष्टिकोण का महत्व होना चाहिए। ज्ञान-विज्ञान की जो शाखाएँ राष्ट्रीय महत्ता रखती हैं, जो राष्ट्रनिर्माण की दृष्टि से आवश्यक हैं उनको प्राथमिकता दी जाय। विज्ञान का तो राष्ट्र की आवश्यकताओं की दृष्टि से अनु-

शीलन किया ही जाय किन्तु पारस्परिक सम्बन्धों की शुद्धि और पुष्टि के लिए सरस साहित्य की भी आवश्यकता है। फिर भी उसको आनुपातिक महत्व ही दिया जा सकता है। राजनीति के क्षेत्र में काम करने वालों को इतिहास और राजनीति का विस्तृत और गम्भीर ज्ञान कराया जाय, किन्तु वे और साधारण ज्ञान से वंचित न रखे जायँ। राष्ट्रीय गर्व की रक्षा के लिए इतिहास का पुनर्निर्माण आवश्यक है। पिछले इतिहास जो लिखे गये थे वे शासकों के दृष्टिकोण से लिखे गये थे। उनमें भारतीय चरित्र के स्थाई गुणों तथा भारत की अन्तरात्मा के दर्शन नहीं होते (उसमें मार-काट और शासकों की सफलता का सोल्लास वर्णन है, भारत की नीति-परायणता, साहित्य, संगीत, कला प्रेम और युद्ध में भी धर्म को प्रधानता देने की बात को प्रकाश में नहीं आने दिया गया।) इस सम्बन्ध में कवीन्द्र-रवीन्द्र के विचार उल्लेखनीय हैं:—

"भारतवर्ष का जो इतिहास हम पढ़ते हैं और जिसे कंठस्थ कर परीक्षा देते हैं, वह भारतवर्ष के निशीथ काल की एक दुःस्वप्न कहानी मात्र है।..........पठान, मुगल, पुर्तगाली, फ्रांसीसी, अंग्रेज सबने मिलकर इस दुःस्वप्न को उत्तरोत्तर जटिल बना दिया है।

परन्तु इस रक्तवर्ण से रञ्जित परिवर्तनशील स्वप्नदृश्य पट के द्वारा भारतवर्ष को आच्छन्न करके देखने से यथार्थ भारतवर्ष दिखाई नहीं पड़ता। भारतवासी कहाँ हैं, इसका कोई उत्तर ये इतिहास नहीं देते। मानो भारतवासी नहीं हैं; केवल वे ही लोग हैं जो मार-काट, खून-खराबी कर चुके हैं।

उन दुर्दिनों में भी मार-काट और खून-खराबी ही भारतवर्ष की प्रधान घटनाएँ थीं, यह धारणा ठीक नहीं है। आँधी के दिन सर्वप्रधान घटना आँधी ही है। इस बात को उस दिन की गर्जना रहते भी हम स्वीकार नहीं कर सकते।..............

परन्तु विदेश जिस समय था, देश उस समय भी था, नहीं तो इन सब उपद्रवों में कबीर, नानक, चैतन्य, तुकाराम आदि को (शङ्कराचार्य, वल्लभाचार्य, सूर, तुलसी, शिवाजी और प्रताप ये सब नाम जोड़े जा सकते हैं) किसने जन्म दिया। उस समय केवल दिल्ली और आगरा ही थे, ऐसी बात नहीं, काशी और नवद्वीप भी थे।"

कहने का तात्पर्य यह है कि भारत को अपने गम्भीर दार्शनिक चिन्तन, शत्रुओं के प्रति उदारता और साधारण लोगों के साथ दया दाक्षिण्य के व्यवहार तथा आतिथ्य सत्कार, साहित्य, संगीत और कला पर गर्व है। उन गर्व की भावना को बढ़ाने वाले दृश्यों का कम उल्लेख हुआ है। तसवीर की कालिमा पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है, स्वर्णिम रेखाएँ तिरोहित की गई हैं। सत्य की रक्षा करते हुए हमको ऐसा इतिहास पढ़ाने की आवश्यकता है जिससे हमारे शौर्य, हमारी उदारता, सांस्कृतिक श्रेष्ठता और सत्य-निष्ठा का उल्लेख हो और हममें राष्ट्रीय गौरव की भावना बढ़े।

क्या गणना है कितनी लम्बी
हम सब की इतिहास लड़ी
हमें गर्व है कि है बहुत ही
गहरे अपनी नींव पड़ी।
हमने बहुत बार सिरजी हैं
कई क्रांतियाँ बड़ी-बड़ी
इतिहासों ने किया सदा ही
अतिशय मान हमारा है
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्तान हमारा है॥

—श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

शासकीय कार्यों के लिए अपने विभागीय आवश्यकताओं के अनुकूल शिल्प और विधान की शिक्षा होना वाँछनीय है। स्वतंत्रता के साथ हमारे युवकों का कार्य क्षितिज विस्तृत हुआ है। नए द्वार जो खुले हैं उनका उचित लाभ उठाने के लिये शैल्पिक शिक्षा आवश्यक है। ऐसा न हो कि थर्ड क्लास के डिब्बों की भाँति पुराने विभागों में ही सब भरते जायँ। देश को जिन कार्यों और सेवाओं की आवश्यकता है उनका प्रशिक्षण लेकर वे उन सेवाओं के योग्य बनें और अपनी ईमानदारी और कार्य कुशलता से उनका स्तर ऊँचा उठायें। कोई भी विभाग (पुलिस भी) बुरा नहीं, यदि उसमें ईमानदार आदमी प्रवेश करें और अपनी ईमानदारी कायम रखें। हम अपने प्रशिक्षणार्थियों को केवल काम चलाऊ चक्षु-प्रहारी ज्ञान नहीं, वरन् गम्भीर ज्ञान कराएँ ताकि वे किसी देश के शासकों से अपने ज्ञान में पीछे न रहें।

चाहे जिस विभाग की शिक्षा दी जाय, उसके साथ राष्ट्रीय मूल्यों (जैसे व्यक्ति और राष्ट्र की एकता आदि), राष्ट्र के संविधान का साधारण ज्ञान, राष्ट्र का इतिहास, हमारे राजनीतिक और सामाजिक अधिकार और कर्त्तव्य, देश के विकास के कार्यक्रम और उनकी गतिविधि, भेद में अभेद की समस्या, अनुशासन की आवश्यकता, राष्ट्र-प्रतीकों का सम्मान, देश प्रेम का साहित्य, देश के गौरव बढ़ाने वाले साहसपूर्ण कार्यों का इतिहास आदि विषयों की शिक्षा देने की आवश्यकता है।

शासक वर्ग के लोग अंग्रेजों की संस्कृति और मनोवृत्ति लेकर आते हैं, और उनका प्रभाव जनता पर पड़ता है। हम अपनी संस्कृति से दूर होते चले जा रहे हैं, इतना ही नहीं हम उससे लज्जित होने लगे हैं। भारतीय संस्कृति के बाह्यपक्ष, रीति-रिवाजि और रहन सहन की औपचारिक बातें जिनके मूल में भारतीय

संस्कृति का मानसिक पक्ष भी लगा हुआ है, और जो सब तरह से संरक्षणीय है, उनका अध्ययन और अनुशीलन किया और कराया जाय। शिक्षा में भारतीय संस्कृति के मानसिक पक्ष की किसी प्रकार से उपेक्षा उचित नहीं है। वे हैं ईसावास्य उपनिषद में बताई हुई शिक्षाएँ–सब जगह ईश्वर को व्याप्त देखना, त्याग के साथ भोग करना और दूसरे के धन पर लालच की दृष्टि न डालना। गीता की बतलाई हुई युक्ताहार बिहार और 'युक्तस्वप्नाव बोध' तथा सर्व-भूतहित सम्पन्न आत्मौपम्य दृष्टि, कर्तव्य बुद्धि एवं धर्म, अर्थ और काम की समन्वय बुद्धि। केवल धर्म, अर्थ, काम का ही समन्वय नहीं, वरन् सभी बातों में समन्वय बुद्धि। शिक्षा में धर्म के इन अंगों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

हमारी राष्ट्रीय शिक्षा, मस्तिष्क (वह भी सोद्देश्य), हृदय और हाथों की हो, जिनसे कि उनमें ज्ञान विज्ञान की जानकारी के साथ देश प्रेम की भावना जाग्रत हो और पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ काम करने की स्फूर्ति आए। इस शिक्षा में विज्ञान की जानकारी के साथ, विनय, शील और सदाचार की शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे हमारा राष्ट्रीय चरित्र बने और इसके कारण हमारा राष्ट्र अन्य राष्ट्रों की श्रेणी में अग्रगण्य हो। जब हम अपने देश के भीतर की समस्याएँ सुलझाने और भ्रष्टाचार, अत्याचार और विषमताओं के निराकरण में समर्थ होंगे तभी हम अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने और अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाने के अधिकारी हो सकेंगे, और तभी अपना राष्ट्रीय गौरव कायम रख सकेंगे। ईश्वर करे हमारा राष्ट्रीय व्यक्तित्व सत्य, अहिंसा, समता और शिष्टता के आधार स्तम्भों पर सदा स्थिर रहे और हमारे कवि का आदर्श पूरा हो :—

जहाँ दैन्य जर्जर अभाव ज्वर पीड़ित,
जीवन यापन हो न मनुज को गर्हित !
युग युग की छाया भावों से त्रासित,
मानव प्रति मानव मन हो न सशंकित !
मुक्त जहाँ मन की गति, जीवन में रति,
भव मानवता में छन जीवन परिणति !
संस्कृत वाणी, भाव, कर्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हों जनवास, वसन सुन्दर तन !
ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित,
नव मानव संस्कृति किरणों से ज्योतित !

—श्री सुमित्रानन्दन पन्त

*

४
सच्ची राष्ट्रीयता स्वकर्त्तव्य पालन में

"यदि हमें सच्चा स्वराज्य स्थापित करना है, यदि हमें उसमें उचित भाग लेना है, तो हमें अपना कर्त्तव्य भी ठीक तरह निभाना चाहिए, हर क्षण और हर काल में उसे हमें तत्परता के साथ पूरा करना चाहिए, चाहे कोई हमें देखता हो या न देखता हो।

× × × ×

इसलिए हमारे लिए आवश्यक है कि हम साधारण जन की चिंता करें, उससे कहें कि स्वराज्य की रक्षा में तुम्हारा उतना ही महत्व है जितना बड़े से बड़े व्यक्ति का हो सकता है। और अगर तुम अपने कर्त्तव्य का उचित रीति से पालन करो तो तुम भी उतने ही बड़े देश भक्त हो सकते हो जितना कोई भी।"

—राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश

मनुष्य की भाव-वृत्तियों में राष्ट्रीयता भी एक प्रमुख वृत्ति है। राष्ट्रीयता में राष्ट्र के प्रति गर्व की भावना तो मुख्य है ही, किन्तु उससे बढ़ कर उसमें राष्ट्रोन्नति की साधना निहित रहती है। जब तक हम राष्ट्र को उन्नत बनाने की सतत चेष्टा न करते रहें तब तक हमारा राष्ट्र पर गर्व करना एक विडम्बना मात्र होगा। भारत

एक पूर्ण स्वामित्व-सम्पन्न-गणतन्त्र राज्य है। उस में शासित और शासक का भेद नहीं, इसलिए उसमें राष्ट्रोन्नति का उत्तरदायित्व किसी एक व्यक्ति-विशेष का नहीं और न वह केवल सरकार का है, प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से उस के लिए उत्तरदायी है। कुछ व्यक्तियों पर जो सरकार के उच्च पदाधिकारी हैं, राष्ट्रोन्नति का सीधा उत्तरदायित्व है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति, वह चाहे जिस स्थिति में हो, अपने कर्त्तव्यपालन द्वारा राष्ट्र के भौतिक और नैतिक समुत्थान में योग दे सकता है।

राष्ट्र का चरित्र—जिस प्रकार वैयक्तिक चरित्र होता है, वैसे ही राष्ट्र का भी चरित्र होता है। व्यक्तियों की रहन-सहन की सफाई, ईमानदारी, बातचीत की शिष्टता, धीरता, वीरता, कष्ट-सहिष्णुता, अनुशासन-प्रियता आदि गुण राष्ट्रीय चरित्र के अंग समझे जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति खिचड़ी के एक चावल की भाँति राष्ट्र के नैतिक स्तर का परिचायक होता है। उस नैतिक उत्थान के बिना कला और भौतिक समृद्धि पहले तो कठिनाई से सम्पादित हो सकेगी और यदि उसका सम्पादन हो भी जाए तो वह खोखली और निस्सार होगी।

यदि राष्ट्र में कारें और वायुयान बढ़ जाएँ और साथ ही लोगों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष की मात्रा बढ़े, बेईमानी और भ्रष्टाचार का बोलबाला रहे तो वह उन्नति किस काम की। यदि समृद्धि और सम्पन्नता कुछ भाग्यवानों के एकाधिकार की वस्तु रह जाए और अधिकांश लोग रोग, गरीबी और गन्दगी के शिकार बने रहें तो वह समृद्धि किस काम की? यदि लोग दूसरों पर अत्याचार और उत्पीड़न करके गगनचुम्बी महल खड़े कर लें तो वे विद्युत-प्रकाश से जगमगाते विशाल भवन किस काम के? उनके लिए गोस्वामी जी के शब्दों में 'विष रस भरे कनक घट जैसे' ही कहना पड़ेगा।

सभी कर्त्तव्य राष्ट्रीय-कर्त्तव्य—रामराज्य के आदर्श में पूर्ण भौतिक समृद्धि के साथ सब लोगों में निर्वैर और सदाचार व्याप्त था। सदाचार और कर्त्तव्य एक व्यक्ति के प्रति होता है और एक व्यक्ति का राष्ट्र के प्रति भी होता है। वास्तव में सभी कर्त्तव्य राष्ट्र के प्रति होते हैं, क्योंकि व्यक्ति के प्रति कर्त्तव्य के मूल में राष्ट्र के प्रति ही कर्त्तव्य होता है। व्यक्ति के प्रति कर्त्तव्य-पालन में राष्ट्र की आन्तरिक सुख शान्ति में वृद्धि होती है। वैसे तो हर एक मनुष्य राष्ट्र-निर्माण में योग देता है, किन्तु कुछ व्यवसाय और उद्योग धन्धे ऐसे होते हैं, जिनका राष्ट्र-निर्माण से सीधा सम्बन्ध होता है। उनके करने वाले यदि ईमानदारी से स्वकर्त्तव्य-पालन करें तो वे राष्ट्रोन्नति में बहुत कुछ सहायक हो सकते हैं।

अध्यापक वर्ग—बालक ही राष्ट्र के भावी नागरिक और उन्नायक होते हैं। मनुष्य का भावी चरित्र और उसकी योग्यता एवं कार्य-क्षमता बहुत अंशों में उसकी प्रारम्भिक शिक्षा पर निर्भर रहती है। यदि अध्यापक लोग अपना कर्त्तव्य राष्ट्रीय दृष्टि से पालन करें तो वे राष्ट्र को योग्य और चरित्रवान व्यक्ति दे सकते हैं। यद्यपि यह मानना पड़ता है कि आजकल के शिष्यों में गुरु के प्रति वह आदर-भावना नहीं है जो पहले जमाने के शिष्यों में थी, तथापि यह बात भी किसी से छिपी नहीं है कि गुरु भी विद्यार्थियों को व्यक्ति नहीं समझते, वरन् मिट्टी या लोहे-लकड़ी के से खिलौने समझते हैं, जिनमें चाबी भर देना उनका काम होता है। वे उनको जीवित संस्थान के रूप में नहीं देखते और न इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उनको वातावरण से अनुकूलता प्राप्त करा कर उनमें स्वयं विकसित होने की योग्यता उत्पन्न करें। कितने अध्यापक अपने विद्यार्थियों में निरीक्षण की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं? कितने अध्यापक अपने विद्यार्थियों में ज्ञानोपार्जन और अध्ययन का चाव उत्पन्न करते हैं? बहुत से अध्यापक तो स्वयं भी सीमित ज्ञान वाले

होते हैं। वे अध्ययन द्वारा अपने ज्ञान को उन्नत बनाने का प्रयत्न नहीं करते, इसीलिए उनके विद्यार्थियों का भी ज्ञान सीमित रहता है। 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' की बात हो जाती है। अध्यापक यदि अपना कर्त्तव्य पालन करें, यदि वे स्वयं चरित्रवान हों तो अनुशासनहीनता की भी इतनी शिकायत न रहे। यह सत्य है कि अध्यापकों को भी पेट की समस्याएँ हैं, किन्तु आर्थिक और पद सम्बन्धी समस्याएँ ज्ञान के उपार्जन और उसकी उपलब्धि में बाधक नहीं बननी चाहिए। अर्थ-संचय जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है, किन्तु वह मूल ध्येय न बन जाना चाहिए। अध्यापक का मूल ध्येय होना चाहिए—विद्यार्थियों का निर्माण और उनकी वृत्तियों का परिष्कार।

डाक्टर तथा अन्य चिकित्सक—राष्ट्र की समृद्धि के लिए जन-स्वास्थ्य उतना ही आवश्यक है जितनी की शिक्षा। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' स्वास्थ्य के बिना शिक्षा भी निष्फल हो जाती है। स्वास्थ्य पर ही शारीरिक और मानसिक श्रम निर्भर रहता है। जन-स्वास्थ्य डाक्टरों के हाथ में है। डाक्टर को चाहिए कि जनता में स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षा का प्रचार करें। रोगों की संख्या में वृद्धि से उनको चाहे आर्थिक लाभ हो, किन्तु उनको उसके लिए नैतिक श्रेय नहीं मिलेगा। बहुत-से डाक्टर रोगी की बेबसी का अनुचित लाभ उठाते हैं। यह प्रवृत्ति नैतिक पतन की ओर ले जाने के कारण राष्ट्र के हित में घातक सिद्ध होगी। जो बात शिक्षकों के लिए कही गई है, वह डाक्टरों पर भी लागू होती है। रुपया उनका मुख्य ध्येय न होना चाहिए, वरन् रोगी को स्वस्थ करना। रोगी का जीवन और मरण डाक्टरों के हाथ में होता है। जीवन से मूल्यवान और कोई वस्तु नहीं। पुनर्जन्म में विश्वास रखते हुए भी यह कहना पड़ता है कि मृत्यु से एक मूल्य-वान व्यक्तित्व की हानि होती है। डाक्टरों की जरा-सी लापरवाही

या थोड़े-से आलस्य के कारण रोगी की जान खतरे में पड़ सकती है। यदि उसकी जान जाती है तो डाक्टर हत्या के भागी होते हैं। डाक्टर लोग मनुष्य हैं और मानवता के नाते यथाशक्ति जनता की सेवा करना उनका पुनीत धर्म है। डाक्टर को इस बात पर प्रसन्नता होनी चाहिए कि उनको इतना महत्वपूर्ण सेवा-कार्य सौंपा गया है और जब कभी रात-बिरात सेवा का अवसर आए, बिना किसी भेद-भाव के उनको अपनी सेवाओं से जनता को लाभान्वित करना चाहिए।

व्यापारी—जो व्यापारी जनता की आवश्यक सुख-सुविधाओं को जैसे अन्न, वस्त्र, घी, दूध को, अपने व्यवसाय का विषय बनाते हैं, उनका एक विशेष उत्तरदायित्व रहता है कि वे लोग जनता को उचित मूल्य पर आवश्यक परिमाण में इन वस्तुओं को उपलब्ध कराएँ। वे अपने लाभ के लिए इन वस्तुओं को छिपा कर न रखें या अनावश्यक रूप से इनके दाम न चढ़ा दें। प्रतिमान (नमूने) के अनुकूल वस्तु न देना पाप है और खाद्य पदार्थों में मिलावट करना राष्ट्र को जन-शक्ति को खोखला बनाना है। व्यापारियों को चाहिए कि विलास की वस्तुओं की अपेक्षा राष्ट्र-निर्माण में योग देने वाली वस्तुओं की ओर अधिक ध्यान दें।

इंजीनियर—अन्न, वस्त्र के पश्चात् मकान बनाने की सामग्री आती है। उसके सम्बन्ध में भी काफी ईमानदारी बरतने की आवश्यकता है। सम्यक आजीविका वही कही जाएगी जो ईमानदारी से उपार्जित की जाए। इन्जीनियरों का व्यवसाय राष्ट्र की समृद्धि से सम्बन्ध रखता है। इंजीनियरी की कई शाखाएँ हैं। किन्तु उनमें से प्रायः सभी, चाहे वे सिंचाई से सम्बन्धित हों, चाहे गृह-निर्माण और सड़कों से, चाहे विद्युत से और चाहे यांत्रिक कार्यों से,

राष्ट्र-निर्माण में योग देती हैं। जनता की गाढ़ी कमाई का बहुत-सा रुपया, जो टैक्सों के रूप में सरकार को जाता है, इंजीनियरों के हाथ से खर्च होता है। उनके द्वारा जो पुल, सड़कें और भवन आदि निर्मित होते हैं, उन पर जनता की सुख-सुविधा ही नहीं, सुरक्षा भी निर्भर रहती है। यदि उनके दूषित निर्माण के कारण किसी को हानि होती है तो व्यक्ति की हानि नहीं होती, सारे जातीय चरित्र पर बट्टा लगता है और एक प्रकार से राष्ट्र के संचालकों की अयोग्यता का प्रमाण-पत्र मिल जाता है। बेईमानी के लिए जितना यह विभाग बदनाम है उतना और कोई नहीं है। इंजीनियरों को अपनी ईमानदारी से इस लोक-धारणा को गलत प्रमाणित कर देना चाहिए। सरकारी माल के बीच में ही गायब हो जाने और उसके 'काले-बाजार' में बिकने तथा सीमेंट आदि के मिश्रण के उचित अनुपात में न होने के आरोपों में अगर कुछ भी सत्य का अंश हो तो राष्ट्र के लिए लज्जा की बात है। ऐसी ही बातों को देख कर तो लोग कह देते हैं कि सारा अवा का अवा ही खराब हो गया है। भ्रष्टाचार के रहते हुए पंचवर्षीय योजनाओं में सफलता कठिन है।

वकील—वकील लोग एक प्रकार से न्यायाधीश के सहायक समझे जाते हैं और जितना आदर और सम्मान न्यायाधीशों का है उतना ही उनका भी होना चाहिए। वे अपने यजमानों को उत्तम-से-उत्तम कानूनी सलाह देकर उनके अधिकारों तथा उनके कर्त्तव्यों का यथावत् ज्ञान करा सकते हैं। अपने मुवक्किल को कमज़ोर मुकदमों से बचने और समझौते करने की प्रेरणा देकर दोनों पक्षों का हित कर सकते हैं। महात्मा गांधी के आदर्शों का अनुकरण करना तो कठिन है, फिर भी वे बहुत-से आपसी झगड़ों का सहज में निपटारा कर सकते हैं। बहुत-से वकील बेजान मामलों में

भी जान बतला कर अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं और हार जाने पर न्यायाधीश के हठवाद को दोष देते हैं। जिस मामले को वे ले लें उसमें किसी प्रकार की लापरवाही न करें। अपने मुवक्किल के पक्ष-विपक्ष के कानून का पूरा-पूरा अध्ययन कर उसे उचित सलाह दें। फौजदारी के मामले में निर्दोष को छुटा लेना एक पुण्य कार्य है। उसमें तब अनैतिकता आ जाती है जब वकील लोग स्थिति से लाभ उठा कर अपने मुवक्किल से अधिक-से-अधिक धन का निष्पीड़न करना चाहते हैं, किन्तु सरासर दोषी को कानूनी दाँव-पेच से बचा लेना सामाजिक अन्याय है। संदिग्ध मामलों में सन्देह का लाभ दिला देना दूसरी बात है, किन्तु असंदिग्ध को संदिग्ध बना देना पाप है। वकील लोग, बहुत अंशों में अदालती भ्रष्टाचार को रोक या कम कर सकते हैं। अपने कार्य में सुविधा के लिए 'हकहकूक' को प्रोत्साहन देना भ्रष्टाचार में भाग लेना है। वकील लोग सरकार द्वारा ऐसी व्यवस्था करा सकते हैं, जिसमें भ्रष्टाचार कम हो किन्तु उसमें उनको स्वयं कुछ मेहनत करनी पड़ेगी। वकील लोग अनेक प्रकार से समाज की सेवा कर सकते है और उसका नैतिक स्तर उठाने मे सहायक हो सकते हैं। वकील लोग अपने व्यवसाय से बाहर जो समाज की सेवा करते हैं, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

वैज्ञानिक—समाज अपनी सुख-सुविधाओं के लिए वैज्ञानिकों का ऋणी है। उद्योगपति भी वैज्ञानिकों के बिना अपना काम नहीं चला सकते हैं। स्वतन्त्रता के बाद भारतीय वैज्ञानिकों का उत्तर-दायित्व बढ़ गया है। वे कृषि तथा उद्योग-धन्धों में, भारत को आत्म-निर्भर बनाने में सहायक हो सकते हैं। भारत की भौतिक समृद्धि बहुत-कुछ उनके हाथ में है। हम केवल भारत की प्राची-नता पर खोखला गर्व नहीं कर सकते हैं। प्राचीनकाल में भारत

चाहे जगत्‌गुरु रहा हो, किन्तु प्रत्येक वस्तु का वर्तमान मूल्य आँका जाता है। भारत की आध्यात्मिकता पर हम गर्व कर सकते हैं, सो भी नवीन भारत के सम्बन्ध में इतना नहीं जितना प्राचीन के विषय में, किन्तु भारत को यह दिखाने की जरूरत है कि वह भौतिक उन्नति में भी किसी के पीछे नहीं है। इसके लिए वैज्ञानिकों का उत्तरदायित्व है। वे वास्तव में राष्ट्र को गर्व की वस्तु बना कर राष्ट्रीयता की भावना में वृद्धि कर सकते हैं।

अन्य बुद्धिजीवी लोग—अन्य बुद्धिजीवी लोगों में विचारक, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री तथा साहित्य-सेवी लोग आते हैं। देश-विचारक और लेखक जनता में स्वस्थ राष्ट्रीयता की भावना भर सकते हैं। उनमें देश प्रेम की भावना जाग्रत कर उनको देशोपयोगी कार्यों में प्रवृत्त कर सकते हैं। विचारक-लोग समाज-व्यवस्था में सुधार कर सकते हैं और जनता का नैतिक स्तर ऊँचा उठाने में भी सहायक हो सकते हैं। अर्थशास्त्री देश की आर्थिक समस्याओं पर विचार कर सरकार को अपने सत्परामर्श का यदि लाभ दे सकें तो देश का कल्याण हो। विकास के प्रत्येक विभाग में अर्थशास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता होती है। अर्थशास्त्री लोग राष्ट्र को अपने ज्ञान से लाभान्वित कर सकते हैं। आयोजना के प्रारम्भ होने से पहले अर्थशास्त्र के पंडितों को उनकी सफलता की सम्भावनाओं पर विचार कर सरकार को उचित परामर्श देना चाहिए। राज-नीतिज्ञ लोगों को भी सरकार के कामों की निष्पक्ष टीका-टिप्पणी कर उस को खतरे के मार्ग से बचाना चाहिए और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि जिसमें सब लोग पूर्ण सुख और शान्ति के साथ रह कर अपना भौतिक और आध्यात्मिक विकास कर सकें। राज-नीतिकों को सत्ता प्राप्त करने की अपेक्षा सेवा का अधिक ध्यान रखना चाहिए।

सम्पादकगण—विचारों के प्रसार और सरकार की आलोचना में समाचार पत्रों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। वे लोग सरकार की ऐसी आलोचना न करें जिससे सरकार के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो। जो आलोचना की जाए वह रचनात्मक दृष्टि से की जाय। सामुदायिकता और प्रान्तीयता को दूर करने में भी अखबार वाले बहुत कुछ सहायक हो सकते हैं। वे यदि अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने लगें तो समाज के वातावरण को विषाक्त बना सकते हैं। समाज की बहुत कुछ आन्तरिक शान्ति अखबार वालों पर निर्भर रहती है। राष्ट्र के प्रति गर्व-भावना बढ़ाने में भी अखबार वाले बड़ी सेवा कर सकते हैं। वे सरकार और जनता के बीच दुभाषिए का काम करें तो वे राष्ट्र के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे। सरकार राष्ट्रीय उन्नति के लिए जो कार्य कर रही है, उनका सच्चा मूल्यांकन कर अखबार वाले जनता और सरकार में सहयोग की भावना उत्पन्न कर सकते हैं। विकास की आयोजनाओं को सफल बनाना उनका पुनीत कर्त्तव्य होगा। अन्न की कमी, जल प्लावन आदि संकटों के अवसर पर सम्पादकों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे जनता का नैतिक साहस बनाये रहें। घबराहट और गड़बड़ी की स्थिति यथासम्भव न पैदा होने दें। जनता और सरकार का सहयोग उत्पन्न कर संकट के पार जाने में मदद दें।

सार्वजनिक सेवाएँ—सार्वजनिक सेवाओं के लोगों में उच्च अधिकारी ही नहीं आते, वरन् प्रधान मंत्री से लगा कर गाँव का चौकीदार और डाकिया भी आता है। ऊपरी दृष्टि से कोई पद ऊँचा है और कोई नीचा, किन्तु राष्ट्र की दृष्टि से सभी पद अपना-अपना महत्त्व रखते हैं। कोई भी व्यक्ति जो अपना कर्त्तव्य-पालन नहीं करता, राष्ट्र के सुचारु रूप से संचालन में बाधक होता है। कुछ विभाग, जैसे पुलिस आदि, बदनाम हो गये हैं। भले आदमियों के लड़के उन में जाना पसन्द नहीं करते। यह उनकी भूल है।

चरित्रवान पुरुष बदनाम से बदनाम सार्वजनिक सेवाओं में सम्मिलित हों और अपनी योग्यता और ईमानदारी से उनका स्तर ऊँचा उठाएँ। स्वतन्त्रता के बाद भारतवासियों के लिए कोई द्वार बन्द नहीं रहा। अपने को जो जिस योग्य समझे, उसी विभाग के लिए वह उद्योगशील रहे। लोभवश अपनी योग्यता से अधिक और ऊँचा काम न लें। प्रत्येक मनुष्य को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह जिस पद के लिए कोशिश कर रहा है वह उस के योग्य भी है या नहीं। पद मिल जाने पर उसको वह राष्ट्र की सेवा का कार्य समझें और अपने कर्त्तव्य पालन में किसी प्रकार का प्रमाद या आलस्य पास न फटकने दें। यद्यपि सब पद बराबर का महत्त्व रखते हैं, तथापि कुछ जैसे फौज, परराष्ट्र विभाग आदि अधिक उत्तरदायित्व के समझे जाते हैं। उन पर राष्ट्र का जीवन निर्भर रहता है। प्रत्येक मनुष्य को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिए करे। वह राष्ट्र की सेवा के अवसर को अपना सौभाग्य समझे।

अवैतनिक कार्यकर्त्ता—संस्थाओं के अवैतनिक कार्यकर्त्ता भी राष्ट्र की सेवा करते हैं। वे यदि अधिकार प्राप्ति की इच्छा और प्रभुत्व कामना को अपने कार्यों की प्रेरक-शक्ति न बनाएँ तो देश का कल्याण हो सकता है। अधिकांश लोग सार्वजनिक संस्थाओं में सेवा की भावना से नहीं जाते। वे या तो अधिकार लालसा या यश लिप्सा से प्रेरित होकर सेवक होने की रूप-साधना करते हैं। उन का दान सात्विक नहीं होता है। लोग जो श्रम-दान करते हैं, उसमें वास्तविकता की अपेक्षा प्रदर्शन अधिक होता है। सार्वजनिक कार्यकर्त्ता अगर सेवा-भाव से प्रेरित होकर कार्य करें तो उनको चुनाव के समय वोटों की भिक्षा की आवश्यकता न पड़े। लोग स्वयं ही उन पर वोट न्योछावर करेंगे। काम करने वालों के लिए

अवसर और काम की कमी नहीं है। रचनात्मक कार्यों का बहुत-सा क्षेत्र अधूरा पड़ा है। वह उत्साही वीर कार्य-कर्त्ताओं की अपेक्षा करता है। बेकार लोग भी इस ओर ध्यान दें तो उनको बेकारी इतनी नहीं अखरेगी। यदि वे समाज के लिए उपयोगी बनेंगे तो समाज भी उनका ध्यान रखेगा। बेकार मनुष्य का मस्तिष्क शैतान का कारखाना बना रहता है। राष्ट्र में असन्तोष फैलाने वाले बेकार लोग ही होते हैं। बेकार रहने से बेगार अच्छी है, उससे काम की आदत तो पड़ती ही है और शरीर में फुर्ती भी आती है। प्रत्येक मनुष्य को चाहे उसके पास कोई उत्तारदायित्व-पूर्ण काम न हो यह ध्यान रखना चाहिए कि कर्तव्य-पालन में जो सुख और शान्ति है, वह आलस्य में नहीं। आलस का सुख एक धोखा है। वह शरीर को बेकाम और मन को अशान्त बना देता है।

गणतन्त्र राज्य की सफलता पूर्ण-स्वामित्व-सम्पन्नता में तो है ही, किन्तु उससे बढ़ कर सफलता उसे सम्पन्न और समृद्ध बनाने में है। उसकी शक्ति और सम्पन्नता 'परेषां परिपीड़नाय' न होकर 'परेषां रक्षणाय' हो। उसमें पूर्ण स्वतन्त्रता हो, वह स्वतन्त्रता सत्कार्यों को निर्वाध रूप से करने की हो। वह स्वतन्त्रता ऐसी हो, जिसमें सन्तुलन और आत्म-संयम को हम न खो बैठें और स्वतन्त्रता स्वेच्छाचार का रूप न धारण करले। आत्म-संयम और सन्तुलन के बिना प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास के लिए अवसर नहीं मिल सकता। गणतन्त्र राज्य तभी सफल हो सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र पर गर्व करता हुआ अपना-अपना कर्तव्य पालन करे और प्रत्येक व्यक्ति को राज्य की ओर से बिना किसी जाति, धर्म अथवा रंग के भेद के आत्म-विकास के लिए पूर्ण सुख सुविधाएँ और समान अवसर प्राप्त हों।

मनुज का जीवन है अनमोल,
साधना है वह एक महान् ।
सभी निज संस्कृति के अनुकूल,
एक हो रचें राष्ट्र उत्थान ।
इसलिए नहीं कि करें सशक्त,
निर्बलों को अपने में लीन—
इसलिए कि हों विश्व-हित-हेतु,
समुन्नति-पथ पर सब स्वाधीन ।।

—डा० बल्देवप्रसाद मिश्र (साकेत-संत)

५

सच्ची स्वतंत्रता और आत्मसंयम

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धि तु सारथि विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।

× × ×

यस्तु विज्ञानवान्भवित युक्तेन मनसाह् सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।। *

"मैं भारत में ऐसा रामराज्य चाहता हूँ जिसमें गरीब से गरीब आदमी भी यह अनुभव करे कि यह देश मेरा है और उसके संगठन में उसके मत का मूल्य भी है। ऐसे राज्य में उच्च श्रेणी और नीच श्रेणी के रूप में मनुष्य का कोई समाज नहीं होगा; सब सम्प्रदाय वाले परस्पर प्रीति का सम्बन्ध रखते हुए वास करेंगे, अस्पृश्यता नाम की कोई वस्तु

---

* अर्थात् आत्मा को रथ में बैठने वाला समझो और शरीर को रथ मानो, बुद्धि को सारथी रूप से ग्रहण करो और मन को उसके हाथ की लगाम समझो अर्थात् मन को बुद्धि के वश में करो—

जो ज्ञानी पुरुष अपने मन को बुद्धि के संयम में रखता है, उसकी इन्द्रियाँ ऐसी वश में रहती हैं जैसे कि सारथी के वश में अच्छे घोड़े।

नहीं होगी, मादक द्रव्य शराब आदि का नाम नहीं रहेगा तथा नारी समाज पुरुष-समाज के समान ही अधिकार भोग करेगा ।"

—महात्मा गांधी

"उचित व्यवहार और अनुशासन का भाव किसी भी देश की जनता में होना ही उसकी प्रगति का परिचायक है ।"

—उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन

महात्मा गांधी के सत्प्रयत्न और पुण्य प्रताप से तथा जनता के सहयोग के फलस्वरूप देश स्वतन्त्र हुआ परन्तु अभी हमने सच्ची स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ नहीं समझा है ।

स्वतन्त्रता का अर्थ परतन्त्रता का अभाव मात्र नहीं । स्वतन्त्रता केवल अभावात्मक नहीं है वरन् वह एक भावात्मक सुसम्पन्न दशा है । यह वह दशा है जहाँ सिर गर्व से ऊँचा उठा रहता है, जहाँ राष्ट्र के आत्म सम्मान के साथ व्यक्ति का आत्म सम्मान हो तथा जहाँ किसी के आत्म सम्मान को ठेस न लगने दी जाय और उसमें जाति-पाँति, धन-वैभव, हीनता व अकुलीनता का हीनता-भाव न उत्पन्न होने दिया जाय । स्वतन्त्रता उस मनोदशा की जननी है जिसमें स्फूर्ति, क्रियाशीलता और आपत्तियों के पहाड़ को ढा देने वाला अदम्य उत्साह हो । जहाँ आशावाद और आत्म-विश्वास हो । पूर्ण स्वतन्त्र देश पूर्णतया स्वतः पूर्ण होता है । वहाँ के लोग अपनी देश की बनी हुई वस्तुओं, अपनी वेशभूषा और संस्कृति पर गर्व करते हैं । वह देश आन्तरिक और बाह्य संघर्षों से मुक्त होता है । वह बलशाली होकर भी 'आ बैल मुझे मार' की नीति नहीं बर्तता । वह सदैव दयाशील और क्षमा परायण रहता है ।

वह राज्य जहाँ भय और आतंक का अभाव हो, किन्तु जहाँ प्रेम का साम्राज्य हो सच्चा स्वराज्य है । जहाँ लोग भय की प्रीति न कर प्रीति का भय करें और राष्ट्र के लिए स्वेच्छा से प्रयत्नशील

रहें, जहाँ पर राष्ट्र अपनी शक्ति और वैभव प्रदर्शन की अपेक्षा जनता की सुख-सुविधाओं और [illegible] स्वास्थ्य और लोक-कल्याण का ध्यान रखे वहीं स्वराज्य और सुराज भी है। जहाँ पूर्ण सम्पन्नता के साथ पूर्ण मानसिक साम्य हो वहीं स्वराज्य और राम-राज्य है। जहाँ दूसरे के दृष्टिकोण का उचित मूल्यांकन हो, जहाँ विचार की स्वतन्त्रता हो और जहाँ मनुष्य की उन्नति और अवनति उनके गुण-दोषों पर निर्भर रहे, दल या जाति की भावना उसमें साधक या बाधक न बने, वहीं सच्ची स्वतन्त्रता है। जहाँ लोग आलस्य को पाप समझें और कर्त्तव्य पालन में प्रसन्नता का अनुभव करें और समय पड़ने पर कर्त्तव्य की खानापूरी से ऊँचे उठ सकें और राष्ट्र के लिए सब कुछ न्योछावर करने को तैयार हो जायँ, वहीं के लोग सच्चे अर्थ में स्वतन्त्र हैं। जहाँ भाषा, प्रान्त, सम्प्रदाय मनुष्य में पार्थक्य की भावना उत्पन्न न करें और अपनी-अपनी संस्कृति के अनु-कूल विकास करते हुए राष्ट्र की सेवा में बाधक न बन कर साधक बनें, वहीं स्वराज्य है।

(जहाँ ज्ञान की ज्योति सदा जगमगाती रहे और उसके विस्तार और प्रकाश में जाति और धर्म का भेद न हो वहीं सच्ची स्वतन्त्रता है। जहाँ व्यक्ति-व्यक्ति, सम्प्रदाय-सम्प्रदाय, प्रान्त-प्रान्त का साम्य हो, जहाँ जन का धन से अधिक मूल्य हो और जहाँ धर्म, अर्थ, काम तीनों का अनुशीलन अबाधित रूप से हो सके वहीं स्वतन्त्रता है। वहीं स्वराज्य है, रामराज्य है।)

पूर्ण स्वतन्त्र देश में पूर्ण स्वशासन रहता है। स्वशासन के दोनों ही अर्थ हैं---स्व द्वारा शासन और स्व का स्व पर शासन। आत्म शासन के बिना स्वतन्त्रता उछृंखलता में परिणत हो जाती है। स्वतन्त्रता और आत्मसंयम अन्योन्याश्रित शब्द हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य जो चाहे सो करे। स्वतन्त्रता का अर्थ

यही है कि उचित कार्य करने में ऊपर से कोई बाधा न हो और उचित कार्य सम्पादन करने में अपने स्वार्थ के लिए दूसरा कोई बाधक न हो। जब हम स्वयं अपने को शासित रखेंगे तभी हम पर दूसरों के शासन की आवश्यकता नहीं होगी। जो लोग स्वेच्छाचारी होते हैं, जो उचित-अनुचित, लाभालाभ, समाज पर पड़ने वाले प्रभाव-कुप्रभाव का ध्यान नहीं रखते इनकी उस निरंकुशता को वश में करने के लिए दूसरों का शासन आवश्यक हो जाता है। दूसरों का शासन अरुचिकर होता है किन्तु आत्म-शासन में प्रसन्नता होती है।

स्वतन्त्र देश के नागरिक चाहे वे बालक हों और चाहे वृद्ध अपना उत्तरदायित्व समझते हैं। वे राष्ट्र को अपना समझते हैं, संस्कृति और रहन-सहन पर गर्व करते हैं, वे राष्ट्र और उसके झंडे का सदा सम्मान करते हैं। वे अपने को शासित रख अपने बड़ों के अनुशासन में रहते हैं क्योंकि आत्मसंयम के साथ अपने से बड़ों का अनुशासन मानना भी आवश्यक होता है। स्वतन्त्र देश में अनुशासन का पूरा ध्यान रखा जाता है। फौज का अनुशासन तो आदर्श माना जाता है। बिना अनुशासन के आत्मसंयम असम्भव है। आत्मसंयम का अभ्यास बालकपन से डालना आवश्यक है। अनुशासन सभ्यता का परिचायक है। अनुशासन-हीनता देश के नाम पर कलंक लगाती है। अनुशासन में जो व्यवस्था रहती है उससे मन भी प्रसन्न रहता है।

समाज में अनुशासन की बड़ी आवश्यकता है। दूसरे के अनु-शासन की अपेक्षा आत्मानुशासन का बड़ा महत्व है। जब सरकार अपनी हो तो अधिकारियों का अनुशासन भी अपना ही अनुशासन होता है। सरकारी अनुशासन भी समाज के हित के लिए होता है। इससे हमको जीवन में एक समय चाहे असुविधा या देरी लगे किन्तु दूसरी बार सुविधा भी हो जाती है। अधिकारियों का यह कर्त्तव्य

है कि वे स्वयं नियमों का पालन कर अनुशासन में रहें। नियमों के निर्माता उनके हत्यारे न बनें। उपदेश की अपेक्षा जीवित उदाहरण अधिक महत्व रखता है।

नियम और व्यवस्था से देश की सामाजिक उन्नति का माप होता है। हमारे जीवन में नियम और व्यवस्था ही हमको अन्य जातियों की दृष्टि में ऊंचा उठाती है।

"संयम संस्कृति का मूल है। विलासिता, निर्बलता और अनुकरण के वातावरण में न संस्कृति का उद्भव होता है और न विकास ही। जिस तरह पच्चीस वर्ष तक दृढ़ ब्रह्मचर्य रखने वाले की संतान सुदृढ़ होती है, उसी तरह संयम के आधार पर निर्माण की हुई संस्कृति प्रभावशाली और दीर्घजीवी होती है।

संयम ही में नयी संस्कृतियों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है। साहित्य, स्थापत्य, संगीतकला और विविध धर्मविधियाँ संयम की अनुगामिनी हैं।"

—काका कालेलकर

*

भाषा, राजनीतिक विचार, धर्म या सम्प्रदाय को तिलाञ्जली दे दी जाय। उनको तिलाञ्जली देना मनुष्य को अपनी भावना और शक्ति के स्रोतों को बन्द कर देना होगा। भावना से शून्य मनुष्य पुच्छ-विषाण-युक्त पशु से भी निम्न कोटि का बन जाता है। राष्ट्रों के सह-अस्तित्व की भाँति इनका भी राष्ट्रीयता के साथ अविरोध भाव से सह-अस्तित्व सम्भव है। अविरोध भाव से काम को भी परमात्मा का स्वरूप माना गया है—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'। सामंजस्य शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का परिचायक होता है।

सीमाएँ—स्वयं राष्ट्रीयता भी, जब यह पार्थक्य भावना उत्पन्न कर विरोध और असामंजस्य स्थापित करती है, दूषित हो जाती है। राष्ट्रीयता की भी सीमाएँ हैं, उनको भी व्यापक मानवता से सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। जिस प्रकार राष्ट्रीयता की सीमाएँ हैं उसी प्रकार वैयक्तिकता, पारिवारिकता, प्रान्तीयता, भाषाप्रेम और साम्प्रदायिकता की भी सीमाएँ हैं। उन सीमाओं का उल्लंघन करना ही राष्ट्रीय हितों का बाधक होता है। आइए इन सब भावनाओं की सीमाओं पर विचार करें।

वैयक्तिकता—व्यक्ति राष्ट्र की सबसे छोटी इकाई है, यह ठीक है; फिर भी कोई व्यक्ति शुद्ध और अमिश्रित इकाई नहीं होता। वह स्वयं कुछ अवश्य होता है, किन्तु उसके व्यक्तित्व में माता-पिता, समाज और जाति का भी व्यक्तित्व सम्मिलित होता है। शुद्ध निरपेक्ष व्यक्ति एक कल्पना हो सकती है, उसका वास्तविक अस्तित्व कठिनता से ही मिलेगा। फिर भी व्यक्ति एक व्यक्ति है। उसके स्वतन्त्र हित हैं, उनमें चाहे पारिवारिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक हित भी सम्मिलित क्यों न हों, उन हितों में व्यक्ति का जीवन है। हितों के साथ आदर्शों का भी प्रश्न लगा

हुआ है। आदर्शों के लिए मनुष्य जीता और मरता है। आदर्शों में वह प्रायः अकेला नहीं होता, उसके साथ धर्म, सम्प्रदाय या दल का भी प्रश्न लगा रहता है।

अविरोध—व्यक्ति के हित, चाहे वे शुद्ध स्वार्थपरक हों या किसी वर्ग, दल या सम्प्रदाय से सम्बन्धित हों, जब तक राष्ट्र के स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखने में बाधक नहीं होते अथवा बगैर असामंजस्य और असहिष्णुता पर आधारित अशान्ति का वातावरण उपस्थित नहीं करते या दूसरों के समानता के अधिकारों से नहीं टकराते तब तक वे क्षम्य रहते हैं। व्यक्ति का हित राष्ट्र का हित है। एक सम्पन्न व्यक्ति राष्ट्र के लिए देन या वरदान स्वरूप रहता है (जब तक उसकी सम्पन्नता न्यायोचित साधनों से अर्जित की जाती है); उसकी वैयक्तिक भावना जहाँ तक उसे परिश्रमशील बनाए रखने के लिए प्रेरकशक्ति का काम करती है, क्षम्य हो जाती है। किन्तु जहाँ वह दूसरों की वैयक्तिकता पर आक्रमण करती है अथवा राष्ट्र के सामूहिक हित में बाधक होती है, वहीं पर वह दोष की सीमा में आ जाती है। व्यक्ति जहाँ अपने हित साधन में राष्ट्र के हित की अवहेलना करता है वहीं उसका व्यक्तित्व राष्ट्र हित में बाधक होता है। इस दूषित व्यक्तिवाद के कई रूप हैं। भ्रष्टाचारी, कामचोरी, सरकारी वस्तुओं का दुरुपयोग, चोर बाजारी, अपनी योग्यता से ऊँचे पद के लिए प्रयत्नशील होना या धन या जाति बिरादरी के मोह से किसी अयोग्य व्यक्ति को कोई पद देना, या किसी दूसरे के प्राप्य अधिकार से उसे वञ्चित रखना, ये सब दूषित व्यक्तिवाद के अन्तर्गत आते हैं। आलस्य, कामचोरी, चोर-बाजारी, बेईमानी आदि से राष्ट्र की उत्पादन क्षमता घटती है और राष्ट्र सम्पन्नता की ओर न जाकर गरीबी और पर-निर्भरता की ओर जाता है। सरकारी कर्ज अथवा जनता की गाढ़ी कमाई से वसूल किए हुए करों के रुपयों का दुरुपयोग राष्ट्रीयता का घातक

है। असावधानी से किया हुआ अपव्यय अपराध की कोटि में आता है। सरकार पर कर्ज का भार बढ़ाना राष्ट्र की शक्ति को कम करना है। वैयक्तिक स्वार्थ साधन और महत्वाकांक्षा बुरी नहीं है यदि उनके साधन धर्म और नीति के अनुकूल हों। इस सम्बन्ध में श्री दिनकरजी के विचार चिरस्मरणीय रहेंगे——

"भाषण, गर्जन, तिकड़म और छद्म, झूठे वायदों और धोखे की कसमों से सारा सार्वजनिक जीवन कोलाहलपूर्ण है। ये सब-के-सब नेतृत्त्व की अभिलाषा के दोष हैं। जब मनुष्य यह ठान लेता है कि अपने क्षेत्र में मुझे सबसे आगे बढ़ना है, तब साध्य का आकर्षण उसके भीतर प्रबल हो उठता है और साधक की महत्ता गौण हो जाती है। साधन की महिमा समझने वाला आदमी गलत राह से चल कर आगे आना नहीं चाहेगा। और नेतृत्व का लोभ साधन की महिमा को कम करता है, इसमें सन्देह नहीं।

× × ×

व्यक्ति आगे बढ़ना चाहता है, यह न तो अस्वाभाविक है और न निन्दनीय ही। सिर्फ उसे यह देखते चलना है कि खुद को आगे बढ़ने की कोशिश में कहीं वह उन मूल्यों को तो नहीं कुचल रहा है, जो एक मनुष्य के वैयक्तिक विकास से कई गुना अधिक मूल्यवान हैं।"

('रेती के फूल' से)

राष्ट्र के अधिकार की सीमा——वैयक्तिक उन्नति के साधनों को जुटाने, सम्पत्ति की रक्षा, देश में सम्पन्नता और शान्ति का वातावरण बनाए रखने और व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा एवं सुख-सुविधा के उपकरण उपस्थित करने के नाते राष्ट्र को व्यक्ति की सेवाओं और सम्पत्ति पर अधिकार है। किन्तु उसकी भी सीमाएँ हैं। मनुष्य

को उद्योगशील बनाए रखने के लिए अपनी सम्पत्ति पर ममत्व की भावना आवश्यक है। राष्ट्र को उस ममत्व का आदर करना चाहिए और व्यक्ति को भी सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा,' त्याग के साथ ही भोग श्रेयष्कर है।

यज्ञ की भावना—हम जो उत्पादन करते हैं, उसमें राष्ट्र के साथ अन्य लोगों का भी हाथ है। उनकी देन को कृतज्ञता के साथ स्वीकार करते हुए उस सामाजिक ऋण को चुकाने में व्यक्ति को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। वह सदा यज्ञ की भावना से 'इदं न मम, इदं लोकहिताय' काम ले। वह अपने को साधनमात्र समझे—'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'। समाज के हित की दृष्टि से जो काम किया जाता है वही यज्ञ बन जाता है। पंच महा-यज्ञ भूतहित की दृष्टि से ही किये जाते थे। आज भी वही भूतहित दृष्टि आवश्यक है।

पारिवारिकता—यज्ञ की भावना जितनी बढ़े, उतनी श्रेयष्कर है, किन्तु इसका सामंजस्य पारिवारिता की एक उचित मात्रा से अवश्य होना चाहिए; क्योंकि परिवार भी व्यक्ति के निर्माण में बहुत सहायक होता है। व्यक्ति के लिए कभी-कभी पारिवारिकता और राष्ट्रीयता में संघर्ष की भावना उपस्थित हो जाती है। यद्यपि राष्ट्रीय हित सर्वोपरि है तथापि परिवार के स्वाभाविक बन्धनों की उपेक्षा करना कठिन हो जाता है। राष्ट्र को इस मामले में उदारता से काम लेना चाहिए। फिर भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ राष्ट्र के लिए पारिवारिक हितों का बलिदान किया गया है। वे लोग धन्य समझे जाते हैं। परिवार का हित उपेक्षणीय तो नहीं है, बालबच्चों के योगक्षेम का ध्यान रखना ही पड़ता है, किन्तु उसके लिए राष्ट्र हित की उपेक्षा करना निन्दनीय होगा। अन्धे की रेवड़ी बाँटना राष्ट्र का अहित करना है।

राष्ट्र व्यक्ति से बड़ा है—राष्ट्र के द्वारा व्यक्ति के हितों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व स्वीकार करते हुए व्यक्ति को यह कभी न भूलना चाहिए कि राष्ट्र की सुख शान्ति और समृद्धि में योग देना उसका अनिवार्य कर्त्तव्य है। व्यक्ति अपने आदर्श और अपना व्यक्तित्त्व कायम रखते हुए उसे इस हद तक न ले जाय कि राष्ट्र की शान्ति भंग हो या उसके हित या आदर्श उग्र रूप से राष्ट्र के हितों या आदर्शों से टकराएँ। राष्ट्र व्यक्ति, दल और सम्प्रदाय से भी बड़ा है। कभी-कभी व्यक्ति राष्ट्र की सफलता या विफलता का मूल्यांकन अपने मापदण्ड से करने लगता है। यदि मैं सुखी हूँ तो राष्ट्र सुखी है, यदि मैं बेकार हूँ तो राष्ट्र में बेकारी या गरीबी बढ़ी हुई है, यह दूषित और संकुचित मनोवृत्ति है। अपने को राष्ट्र से पृथक् समझने से न राष्ट्र का भला होता है और न अपना। राष्ट्र के लिए की हुई निष्काम सेवा निष्फल नहीं जाती।

लोग पंडित जवाहरलाल के गौरव को राष्ट्र का गौरव नहीं समझते। वे कहने लगते हैं इससे हमें क्या? वे व्यक्ति में ही सीमित रहते हैं। वे मंथरा के शब्दों में कहने लगते हैं—'कोऊ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरी छांड़ि कि होबउ रानी।' यद्यपि यह ठीक है कि बहुत से योग्य आदमी अपनी योग्यता के अनुकूल पद नहीं पाते, किन्तु वैयक्तिक असफलता के मूल में वैयक्तिक अयोग्यता भी होती है। राष्ट्र की सफलता विफलता आँकने में हमको उदार दृष्टि से काम लेना चाहिए। राष्ट्र की सफलता का उचित मूल्यांकन न कर हम कार्य-कर्त्ताओं को निरुत्साह कर देते हैं और देश की भावी उन्नति में बाधक होते हैं। हमारी शिक्षा का यह दोष है कि हमको राष्ट्र के साथ तादात्म्य करना नहीं सिखाया गया है। राष्ट्रीय भावना को पुष्ट बनाए रखने के लिए राष्ट्र का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि बिना किसी सम्प्रदाय या दल के भेद-भाव के सबको यह अनुभव करने का अवसर दिया जाय कि राष्ट्र

उनका है। यह बात सुख-सुविधाओं और नौकरियों के सम्बन्ध में ही नहीं वरन् राष्ट्र-हित-चिंतन के अधिकार में भी होनी चाहिए, बशर्ते कि दूसरे दल के लोग भी अवरोधक मनोवृत्ति को छोड़कर विचारों के आदान-प्रदान में उदारता से काम लें।

जातिवाद—किसी काम में परम्परागत निपुणता और पारस्परिक सहयोग से अपनी सामाजिक समस्याओं का हल खोजने के लिए समाज का जातियों में विभक्त होना ठीक कहा जा सकता है, किन्तु यदि जातियाँ ऊँच नीच के आधार पर एक दूसरे से घृणा उत्पन्न करने अथवा बिरादरी के घेरे में ही अंधे की रेवड़ी बांटने की प्रवृत्ति की आधार स्थली बनाई जायँ तो जाति व्यवस्था जातिवाद में परिणत हो जाती है। जाति व्यवस्था को जाति-विभाजन का आधार बनाना तो श्रेयष्कर है, किन्तु दूसरी जातियों में आतङ्क जमाने या उनमें हीनता-भाव उत्पन्न करने में उसे काम में लाना राष्ट्रीयता के लिए घातक होगा। इस व्यवस्था का हिन्दुस्तान से मिटाना तो कठिन होगा और विशेष रूप से वांछनीय भी न होगा, किन्तु इसका सुधार कर इसमें से अपमानजनक अंश निकाला जा सकता है और इसके अन्तर्गत जो अन्याय और अत्याचार हो रहे हों वे दूर किए जा सकते हैं। हम दूसरों से न्याय की तभी अपेक्षा कर सकते हैं जब हम स्वयं दूसरों के प्रति न्याय परायण हों। दूसरों का हीनता भाव दूर करना मानवता की पहली आवश्यकता है। व्यवहारिक दृष्टि से भी सहयोग और सहकारिता सामाजिक समानता के बिना नहीं हो सकती है। इस समानता के दोनों ओर से प्रयत्न होने चाहिए। तथाकथित नीच जातियों में उठने की इच्छा और रहन-सहन को ऊँचा बनाने का प्रयत्न और तथाकथित ऊँची जातियों में दूसरों को ऊँचा उठाने की उत्कट अभिलाषा होनी चाहिए। दोनों ओर से विनय और सद्भावना का वातावरण आवश्यक है। फिर भी 'क्षमा बड़ेन को चाहिए' की नीति बर्तना

श्रेयष्कर होगा। विनय दोनों पक्षों को शोभा और शालीनता प्रदान करती है।

दलबन्दी—बीज का दलों में विभक्त होना उसकी सजीवता का लक्षण है। एक स्वतन्त्र देश में जहाँ विचार की स्वतन्त्रता है, दलों का होना स्वाभाविक है। प्रत्येक राष्ट्र में विभिन्न विचार-धाराएँ चलती रहती हैं, यह उसकी समृद्धि और सम्पन्नता की परिचायक है। स्वतन्त्र देश में विचार का पूर्ण स्वातन्त्र्य रहता है, किन्तु इस स्वातन्त्र्य की भी सीमा है। यह स्वातन्त्र्य साम्य की अपेक्षा रखता है। स्वातन्त्र्य जब अपनी उचित सीमाओं का उल्लंघन कर बैठता है तब वह देश की गति में अवरोधक बन जाता है। विचारों का प्रचार अहिंसात्मक होना चाहिए। विचारधारा का मूल्य अवश्य है, किन्तु मनुष्य से अधिक नहीं। हम चाहे जिस विचार के हों सामाजिक साम्य और शांति की रक्षा करनी चाहिए। विचारों के प्रचार के लिए शान्ति भंग करना उन विचारों का पक्ष गिराना है। समृद्ध राष्ट्र में ही विचार पनप सकते हैं। एक समृद्ध राज्य में दलों का होना आवश्यक है। क्योंकि दलों द्वारा विभिन्न विचार-बिन्दु प्रकाश में आते हैं और विषय की अच्छी छान-बीन हो जाती है। किन्तु दलों को यह समझ लेना चाहिए कि वे अपने दृष्टिकोण को देश सेवा के ही नाते रखें। देश का स्थान पार्टी या दल के स्थान से ऊँचा है। देश के हित के आगे अपने वैय-क्तिक अथवा दलगत गौरव को बलिदान कर देना श्रेयष्कर होगा। दल की भावना जहाँ अवरोधक वृत्ति धारण कर शासकीय सत्ता प्राप्त करने की इच्छा से काम करती है वहाँ वह निन्दनीय हो जाती है। शासकीय दल का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपनी गौरव भावना को छोड़ कर दूसरे दलों द्वारा बताए हुए अच्छे मार्गों और सुझावों को अपनाये। दलों का पारस्परिक विश्वास और देश हित में योगदान आवश्यक है।

रूस आदि साम्यवादी देशों में विचार धाराओं को अधिक महत्व दिया गया है। विचारधाराएं देश की सीमाओं को पार कर अन्तर्राष्ट्रीय एकता धारण कर लेती हैं, जो कभी-कभी देश की राष्ट्रीयता के विरोध में खड़ी हो जाती हैं। रूस वाले राष्ट्रीय सीमाओं को मान कर सब देशों और मजदूरों की एकता चाहते हैं और उनको अपने राष्ट्र के विरुद्ध खड़े होने को भी प्रोत्साहन देते हैं। वे राष्ट्रीयता को एक संकुचित पूंजीवादी विचारधारा मानते हैं किन्तु युद्ध और आक्रमण के समय उनको भी देश की रक्षा के लिए राष्ट्रीयता का सहारा लेना पड़ता है।

साम्प्रदायिकता--धर्म मनुष्य को उसके मनुष्य और ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य की शिक्षा देता है। वह एक स्वाभाविक बन्धन है और संगठन का मूल सूत्र बनता है। जहाँ तक यह बन्धन पारस्परिक सद्भाव और सेवाभाव को बढ़ाने और अपनी विशेष समस्याओं को सुलझाने में काम आवें वहाँ तक ये सराहनीय हैं और जहाँ ये एक दूसरे को नीचा दिखाने, पारस्परिक द्वेष-भाव बढ़ाने और पक्षपात करने में काम आवें वहाँ ये निन्दनीय हो जाते हैं। सब धर्म मानवता के धर्म हैं। अगर कोई धर्म मानवता के विरुद्ध जावे तो वह आत्मघात करता है। ईश्वर के बन्दों से द्वेष कर ईश्वर को प्रसन्न करना असम्भव है। शिवजी से द्रोह कर रामभक्त नहीं हो सकता--

शिवद्रोही मम दास कहावे।
सो नर मोहि सपनेहुँ नहिं भावे।।

राष्ट्रीयता के लिए यह पार्थक्य भावना, जो द्वेष का रूप धारण करे--घातक है। सभी धर्म और सम्प्रदाय ईश्वर की उपासना करते हैं--'एकं सद्विप्रा बहुधावदन्ति'। हमारे यहाँ धर्मों का अविरोध माना गया है--

'त्वमेकः गम्यः पयसामर्णवेव'

जिस प्रकार समुद्र सब नदियों का गन्तव्य है, उसी प्रकार ईश्वर सभी धर्मों का आराध्य है—

'ईश्वर, अल्ला तेरे नाम।'

पाकिस्तान में धर्म और सम्प्रदाय को अधिक महत्व दिया गया है। साम्प्रदायिकता के आधार पर दो राष्ट्र की नीति पनपी और देश का विभाजन हुआ। पाकिस्तान के लोग सब मुसलिम देशों की एकता चाहते हुए भी राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं को भी महत्ता देते हैं। क्योंकि जहाँ भौगोलिक सीमाओं का प्रश्न आता है वहाँ एक सम्प्रदाय के होते हुए भी अपने-पराए का भेद हो जाता है।

प्रान्तीयता—धर्म निरपेक्ष लोगों में भी प्रान्तीयता का रोग लगा रहता है। कभी-कभी यही भाषा प्रेम का रूप धारण कर लेता है। सम्प्रदाय और धर्म की भाँति प्रान्तीय बन्धन प्रेम का बन्धन होना चाहिए। वह भी पारस्परिक सहायता, सहकारिता और सहयोग के लिए होना चाहिए। जिस प्रकार दल विचारों की सम्पन्नता को बढ़ाते हैं, उसी प्रकार प्रान्त जीवन की सम्पन्नता को बढ़ाते हैं, किन्तु वे राष्ट्र की सम्पन्नता को बढ़ाने के लिए हैं। राष्ट्र की रक्षा में प्रान्त की रक्षा है। प्रान्तीयता के वश हम कोई ऐसा काम न करें जो राष्ट्र के लिए घातक हो। प्रान्त और राष्ट्र का अवयवावयवी सम्बन्ध है। एक की पुष्टि और समृद्धि दूसरे की पुष्टि और समृद्धि है। राष्ट्र की रक्षा और समृद्धि में व्यक्ति और प्रान्त की संरक्षा और समृद्धि है। धर्म की भी रक्षा देश की रक्षा में है। राष्ट्र की अवनति में प्रान्त की अवनति है। प्रान्त से प्रेम और उसकी सेवा राष्ट्र की सेवा है किन्तु इतना ध्यान रखना चहिए कि अंग की सेवा में अंगी को न भूल जाये। ईश्वर हमको सन्मति दे कि हम इन राष्ट्र रोगों से अपने को बचाए रखें और पारस्परिक सद्भावना

अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण—वैयक्तिक हितों में तो दूषित स्वार्थ रहता है, किन्तु प्रान्त, भाषा, सम्प्रदाय और दल के प्रश्न व्यक्ति के संकुचित घेरे से ऊँचे उठकर कुछ उदारता का रूप लेकर आते हैं। उनका वृत्त कुछ विस्तृत अवश्य होता है, फिर भी संकुचित रहता है। जाति की भाँति प्रान्त का भी आकर्षण स्वाभाविक है। मनुष्य जहाँ की मिट्टी में खेला है, जिस भाषा को वह बचपन से बोलता है, उससे स्वाभाविक प्रेम हो जाता है। स्थानीय प्रेम, भाषा, धर्म और सम्प्रदाय के बन्धनों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु हमको यह न भूलना चाहिए कि राष्ट्र की रक्षा में प्रान्त, भाषा और सम्प्रदाय की रक्षा है। हमको प्रान्त, भाषा और सम्प्रदाय के प्रश्नों को इतना जटिल नहीं बना देना चाहिए कि राष्ट्र की शांति भंग हो और अधिकारी लोग निर्माण के कार्य में न लगकर शान्ति की रक्षा में संलग्न रहें।

प्रेम के बन्धन पार्थक्य के कारण न बनें—जाति, प्रान्त, भाषा, सम्प्रदाय मानव समाज के वर्गों को आपस में बाँधते अवश्य हैं, किन्तु उनको पार्थक्य की प्राचीरें न बना लेना चाहिए। इन भावनाओं का राष्ट्रीयता से विरोध नहीं है, यदि प्रत्येक प्रान्त, समुदाय, जाति या दल के लोग अपने स्वाभाविक प्रेम बन्धनों को आन्तरिक संगठन के सूत्र के रूप में प्रयोग कर उस संगठन को राष्ट्र के संगठन और उसकी पुष्टि और समृद्धि में योगदान के लिए उपयोग में लाएँ।

संकुचित और व्यापक हित—यह ठीक है कि प्रत्येक प्रान्त, जाति, वर्ग या सम्प्रदाय की समस्याओं को बहुत ऊँचे से नहीं सुलझाया जा सकता है। बहुत ऊँचे से तो देश की व्यापक समस्याओं के ही सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है। जाति, विरादरी या सम्प्रदाय की विशेष समस्याओं को जाति विरादरी वाले ही सुल-

झायेंगे। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रान्त वा जाति वा सम्प्रदाय के लोग राष्ट्र से बाहर हैं। प्रत्येक प्रान्त, जाति वा सम्प्रदाय के लोगों की विशेष समस्याएँ होते हुए भी उन लोगों के ऐसे व्यापक हित भी होते हैं, जो सारे राष्ट्र के लिए एक से होते हैं। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। राष्ट्र का प्रश्न हमारे अन्न, वस्त्र, सुरक्षा और स्वाभिमान का प्रश्न है। इन प्रश्नों के साथ जीवन-मरण का सवाल लगा रहता है। कोई भी व्यक्ति, जाति, प्रान्त या सम्प्रदाय अपने विशेष हितों के लिए व्यापक हितों का बलिदान नहीं कर सकता। उनका बलिदान करना विचार मूढ़ता होगी—'अल्पस्य हेतोः बहुहातुमिच्छन विचार मूढः प्रतिभासि त्वममे'। इसको अंग्रेजी में 'पेनी वाइज पाउन्ड फुलिस' कहेंगे। इसी को 'अशर्फियाँ लुटाकर कोयलों पर मोहर' कहते हैं।

पार्थक्य भावना से हानियाँ—सम्प्रदाय, प्रान्त, भाषा, बिरादरी आदि के बन्धन दृढ़ अवश्य हैं; किन्तु इतने नहीं कि उनके पीछे राष्ट्र का हित बलिदान करना पड़े। धर्म जीवन के प्रमुख मूल्यों में से है। वह व्यक्ति के जीवन को ऊँचा उठाने और व्यक्ति व्यक्ति में साम्य तथा सद्भावना स्थापित करने में सहायक होता है, किन्तु कभी-कभी यह पार्थक्य की भावना जागृत कर अनर्थ का विधायक होता है। जहाँ धर्म को सर्वोपरि प्रधानता देकर एक धर्म वाले दूसरे धर्म के लोगों से लड़ते हैं, तब वे राष्ट्र की शक्ति को क्षीण कर देते हैं। राष्ट्र धर्म की भी रक्षा कर सकता है, किन्तु वह किसी धर्म को एकनिष्ठ मान्यता नहीं देता। राष्ट्र के लिए सब धर्म समान हैं। साम्प्रदायिकता जब पार्थक्य और द्वेष की जननी होती है, तब वह निंद्य हो जाती है। किन्तु साम्प्रदायिकता के भय से धर्मभाव को तिलांजलि देना कूड़े-करकट के साथ गेंहुओं को भी फटक देना होगा। धर्म हमारी नैतिकता और सांस्कृतिकता का पोषक है।

वह हमारे जातीय व्यक्तित्व के निर्माण में योग देता है। किन्तु संस्कृति को पार्थक्य का बहाना न बनाना चाहिए।

धर्म की संकुचित और पार्थक्य भावना ने देश के दो टुकड़े कराए। पार्थक्य द्वारा पाकिस्तान के साम्प्रदायिक स्वाभिमान की पुष्टि हुई हो, किन्तु वहाँ के उत्पादित कच्चे माल का आर्थिक मूल्य कहीं अधिक होता, यदि वह भारत में ही सम्मिलित रहता। पाकिस्तान को बहुत सी चीजों के लिए इतना अधिक मूल्य भी न देना पड़ता। उनको आर्थिक और सैनिक सहायता के लिए अमरीका का मुखापेक्षी बनना पड़ता है। वैज्ञानिक उन्नति भी, जो पूरे भारत के सहयोग से होती, पृथक् रह कर नहीं हो सकती। उनकी बात वे जानें, 'गतं न शोचामि' की बात है।

जितने छोटे प्रान्त होते हैं उतना ही अधिक शासन का व्यय बढ़ता है और लोक कल्याणकारी कार्यों में भी रुपया कम लगाया जाता है। पृथक् प्रान्तों की माँग देश को आर्थिक हानि पहुँचाना है। भाषा के बन्धन बड़े दृढ़ और स्वाभाविक अवश्य हैं, किन्तु यदि भाषाओं के आधार पर विभाजन किए जायँ तो एक-एक प्रान्त के कई-कई भाग हो जायँगे और भारत की आर्थिक सुदृढ़ता को हानि पहुँचेगी।

भाषा—प्रत्येक प्रान्त अपनी भाषा पर गर्व कर सकता है। अपने घरेलू व्यवहार में प्रान्तीय भाषा का अबाधित रूप से व्यवहार हो। सरस साहित्य की भी प्रान्तीय भाषाओं में सृष्टि हो। प्रान्तीय भाषाओं की समृद्धि राष्ट्रभाषा और राष्ट्र की समृद्धि है। हम 'स्टीम रोलर' की एकता नहीं चाहते। हम विभिन्नता में एकता की सम्पन्न और समृद्ध एकता चाहते हैं। वह समृद्ध एकता तभी सम्भव हो सकती है जब सब प्रान्तीय भाषाएँ अपना-अपना अस्तित्व बनाए रख कर राष्ट्र की भाषा को सम्पन्न बनाने में योग

हैं। राष्ट्र के लिए एक भाषा का होना उतना ही आवश्यक है, जितना शरीर के लिए एक केन्द्रीय स्नायु संस्थान। विकेन्द्रीकरण किन्ही दृष्टियों से आवश्यक है किन्तु बिना केन्द्रीकरण के वह विभिन्नता और विघटन की ओर ले जाता है। राष्ट्रभाषा राष्ट्र के केन्द्रीकरण और ऐक्य का एक साधन है।

८४। म बहुत सी भाषाओं का होना दुर्भाग्य की बात नहीं, किन्तु दुर्भाग्य इस बात का है कि हमको अन्तर्राष्ट्रीय कारबार चलाने के लिए एक विदेशी भाषा का आश्रय लेना पड़े। जब विदेशों में भिन्न प्रान्त के लोग अँग्रेजी में बातचीत करते हैं तब वे लोग आश्चर्य से पूछते हैं कि क्या आपके यहाँ कोई राष्ट्रभाषा नहीं है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करना राष्ट्र की एक आवश्यकता की पूर्ति करना है। हमको अपने प्रान्त की भाषा के प्रेम में इतना स्वार्थ परायण न हो जाना चाहिए कि हम राष्ट्र के हितों का तिरष्कार करने लग जायँ या ईर्ष्यावश एक देशी भाषा की अपेक्षा विदेशी भाषा को वरिष्टता दें। राष्ट्र से ही भाषा की समृद्धि है। भाषाएँ राष्ट्र का अंग हैं, वे अंगी का स्थान नहीं ले सकतीं।

अवयवावयवी सम्बन्ध–शरीर के अवयवों की भाँति प्रान्त और सम्प्रदाय अपना स्वतन्त्र अस्तित्व, अवश्य रखते हैं किन्तु वे केन्द्र पर उतने ही निर्भर रहते हैं जितने अवयव केन्द्रीय पाचन-प्रणाली, स्वास-प्रणाली और रक्तसंचार-प्रणाली पर। प्रान्तों की शक्ति केन्द्र की शक्ति है और केन्द्र की शक्ति प्रान्तों की शक्ति है। शरीर का कोई अवयव शरीर से अलग होकर नहीं पनप सकता है। इसी प्रकार प्रान्तों का निरपेक्ष अस्तित्व नहीं रह सकता है। प्रान्त और केन्द्र के सहयोग में ही दोनों की समृद्धि है।

विश्व में फैल जाय सुख शान्ति,
यही हो जीवन का आदर्श।
इसी में मानवता की कान्ति,
इसी में मानव का उत्कर्ष।
उचित है मनुज इसी के हेतु,
संभालें अपने अपने काम।
जहाँ है भरत, वहाँ हों भरत,
जहाँ है राम वहाँ हों राम।

—साकेत संत

७

पार्थक्य भावना और दूषित अहम्

"यदि हम चाहते हैं कि हम अपने देश का पुनर्निर्माण करने मे सफल हों और हमारा देश भारत उस प्रतिष्ठा और गौरव को कायम रख सके जो उसने स्वतन्त्रता के बाद दूसरे राष्ट्रों की नजरों में पायी है, तो हमें जात-पांत, सम्प्रदाय, प्रांत और भाषा के संकीर्ण पक्षपात के ऊपर उठना होगा। यदि हम अपने को संगठित करके इन प्रवृत्तियों का मुकाबला नहीं करते तो हम उन्नति के उन सब अवसरों को खो देंगे, जो हमें अपनी स्वतन्त्रता से प्राप्त हुए हैं। हम अपने देशवासियों की आशाओं पर पानी फेर देंगे और यह साबित कर देंगे कि हमने अपने इतिहास से कोई सबक नहीं सीखा।

मैं अपने सब देशवासियों से हृदय से इन बातों पर विचार करने का अनुरोध करता हूँ कि वे केवल कारखानों की उन्नति नहीं बल्कि उन भावों के विकास पर भी ध्यान दें जिन पर हमारे राष्ट्र की स्वतन्त्रता और अस्तित्व निर्भर है, अपने में निष्ठा, देशभक्ति, राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का ध्यान और देश के प्रति व्यक्तिगत सच्चा प्रेम और जिम्मेदारी का भाव भरें।"

—राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद (१९६० के १५ अगस्त के संदेश से)

यद्यपि अहंकार को एक दूषित वृत्ति माना गया है तथापि वह सामाजिक व्यवहार के लिए आवश्यक है। अहंकार व्यक्तित्व का

परिचायक होता है। व्यक्तित्व ही संसार में रंग-बिरंगापन, वैविध्य, नानात्व और सजीवसम्पन्नता पैदा करता है। बिना व्यक्तित्व के हम चाहे अखण्डमण्डलाकार, चराचर में व्याप्त ब्रह्म बन जायें किन्तु निर्जीव और नीरस रहेंगे। मायाजन्य 'मैं और मोर' जीवन की सरसता प्रदान करता है। माया का फन्दा नश्वरता की ओर ले जाता हुआ भी जीवन लालसा को जीवित रखता है। यह अहंकार व्यक्तियों का तो होता ही है, संस्थाओं, समाजों और देशों का भी होता है। यह एक प्रकार का सामूहिक व्यक्तित्व है।

इस व्यक्तित्व की, जो जीवन में सरसता और रसीलापन प्रदान करता है, निर्दोष और सदोष सीमाएँ हैं। जहाँ तक यह व्यक्तित्व, वह चाहे व्यक्ति का हो चाहे समाज का हो, अपनी विशेषताओं पर आरूढ़ रहता हुआ समाज, देश और ससार की चित्रमयी सुव्यवस्था में योगदान करने के लिए होता है वहाँ तक यह ठीक है, और जहाँ यह 'वयं-वयं' और 'यूयं-यूयं' की नीति को अपनाता हुआ पार्थक्य की भावना को पोषण देता है तथा व्यक्तियों, वर्गों और समाजों के हितों से टकराहट पैदाकर व्यक्ति, वर्ग और समाज में ऊँच-नीच की भावना या उस पर आधारित विद्रोहात्मक संघर्ष उत्पन्न कर देता है, वहीं वह दूषित हो जाता है।

व्यक्तियों का संघर्ष भी राष्ट्र के हित का बाधक होता है क्योंकि उसमें भी सामाजिक व्यवस्था भंग होती है। किन्तु यहाँ पर हम सामूहिक अहम् की दूषित सीमा की ही चर्चा करेंगे। यद्यपि राष्ट्रीयता भी एक सदोष भाववृत्ति मानी जाती है तथापि हम अपनी सीमा के भीतर रहकर राष्ट्रीयता को विस्तारोन्मुख अहमों में (जैसे जातिवाद, सम्प्रदायवाद, प्रान्तीयता आदि में) एक क्षम्य इकाई मानते हैं। विश्व की नागरिकता या वसुधैव कुटुम्बकम् के मानने वालों से मेरा कोई विरोध नहीं।

जाति, सम्प्रदाय और प्रान्त की इकाइयाँ भी अपना निर्दोष-पक्ष रखती हैं। (आजकल प्रान्तीयता से मिलती जुलती भाषाओं के आधार पर विभाजन की प्रवृत्ति चल पड़ी है) ये इकाइयाँ हैं तो संकुचित और झगड़ों की जड़, किन्तु अपना महत्व रखती हैं। ये मनुष्य को उसके वैयक्तिक एवं संकुचित स्वार्थों से ऊँचा उठा अपनी समाज या वर्ग के हितों के लिये बलिदान कराना सिखाती हैं। अपनी जाति, सम्प्रदाय या वर्ग के लोगों की उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहना, और अपने वर्ग के लोगों को राष्ट्र की सेवा के लिये एक उपयोगी इकाई बनाना यहाँ तक तो कोई बुरी बात नहीं, बुराई वहाँ से शुरू होती है जहाँ इन संकुचित इकाइयों के पारस्परिक प्रेम में बाँधने वाले सम्बन्ध-सूत्र दृढ़ पार्थक्य रेखाएँ बन कर घृणा और द्वेष के बीज बोने लग जाते हैं। लोग एक दूसरे से ही वैर नहीं करने लगते वरन् देश से भी द्रोह करने लग जाते हैं। लोग 'धर्म और संस्कृति खतरे में है' के नारे लगाने लगते हैं। लोग अपनी संकुचित संस्कृति की रक्षा के लिये मूल मानव संस्कृति पर पदाघात कर हत्या तक पर उतारू हो जाते हैं। पार्थक्य की प्रवृत्ति को रोकने के लिये जो उपाय किये जाते हैं उन्हें साम्राज्यवादी कहा जाता है। धार्मिक आधार पर विभाजन के दुष्परिणाम हम देख चुके हैं। विभाजन से खर्चा बैठता है और अहंभाव के बढ़ने से द्रोह और जय-पराजय की स्पर्द्धा भी बढ़ती है। हमारे गर्व की भावना एक संकुचित इकाई पर तो बढ़ जाती है किन्तु बृहत इकाई पर से कम हो जाती है। देश हमारी स्वामिभक्ति से वंचित हो जाता है। विभाजन प्रशासनिक सुविधाओं के एक मात्र आधार पर होना चाहिए फिर भी देश की केन्द्रीय शक्ति को सबल और पुष्ट बनाये रखने के ध्येय को दृष्टि से ओझल न होने देना चाहिए।

जाति, सम्प्रदाय, भाषा, प्रान्त के बन्धन यदि उचित सीमा से बाहर हो जायँ तो राष्ट्रहितों में बाधक हो सकते हैं। जातीय

पार्थक्य भावना देश में भेद-भाव उत्पन्न कर देश को कमजोर बना सकती है। जाति के बन्धन यदि ब्याह-शादी तक ही सीमित रहें और उनसे बाहर जाने की स्वतन्त्रता रहे, कोई किसी को जाति के नाम पर आतंकित न करे, सामाजिक व्यवस्था में सब जातियों का महत्व बराबर समझा जावे और जातिवाद के सहारे सार्वजनिक सेवाओं में पक्षपात या भेदभाव न हो, तो जातिवाद राष्ट्रीयता के साथ चल सकता है, उसमे भी सामूहिक अह को मारना होगा।

साम्प्रदायिकता मे जहाँ तक अपने धर्म की दृढ़ता रखी जाय वहाँ तक ठीक है, अपने धर्म पर दृढ़ता के साथ परधर्म सहिष्णुता भी चाहिए। हमको यह न समझना चाहिये कि सत्य पर हमारा ही एकाधिकार है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' दूसरों को अपने दृष्टिकोण से प्राप्त किये हुए सत्य का उतना ही अधिकार है जितना कि हमको अपने द्वारा स्वीकृत सत्य के मानने का। एक ही सम्प्रदाय में जहाँ सुख सुविधायें और सार्वजनिक सेवायें केन्द्रित होने लगती हैं वहाँ राष्ट्रीयता की हत्या होती है।

आजकल के द्रुत-यातायात के दिनों में देश का कोना-कोना एक हो गया है। धर्म, प्रान्त और जाति की साधारण व्यवहार में कोई परवाह नहीं करता। अँग्रेजी सभ्यता के स्टीमरोलर ने सब भेदों को मिटा दिया है, फिर भी हमारे वैयक्तिक और सामूहिक अहं टकराहट पैदा कर देते हं। भाषाओ के भेद भी अभेद्य नहीं हैं। असमी, बंगाली एक दूसरे को समझ सकते हैं, हिन्दी और पंजाबी में बहुत भेद नहीं है। बंगाली, असमी, हिन्दी और पंजाबी की सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि एक है, हिन्दी और पंजाबी दोनों के ही धर्मग्रन्थ रामनाम को महत्ता देते हैं। गुरू नानक, गुरू गोविन्दसिंह, कबीर और दादू हिन्दू और सिख दोनों के मान्य हैं। हिन्दी, गुज-

लिपि भिन्न है, फिर भी आपस में झगड़ा रहता है। भारत की सभी भाषाओं को संविधान में सम्मानपूर्ण स्थान मिला है। सभी भाषायें राष्ट्र भाषायें हैं, सबके कवि राष्ट्र के कवि हैं। रविबाबू बंगाली के ही कवि नहीं हैं वे भारतीय विचारधारा के प्रमुख गायक हैं। मणिपुर के नृत्यों पर कुल भारत को गर्व है। दक्षिण के आचार्य सारे भारत के आचार्य हैं। हिन्दू तीर्थ सारे भारत में फैले हुए हैं। उद्योग केन्द्रों से सारा भारत लाभान्वित हो रहा है, रेलों और हवाई जहाजों से प्रान्तीय भेद मिट जाते हैं, फिर भी कभी-कभी अहमों की टकराहट हो जाती है। प्रान्तीय भाव जाग्रत हो झगड़ा पैदा कर देते हैं। राष्ट्र को हानि पहुँचती है। हमें राष्ट्र को मुख्यता देनी चाहिये। हमारे जीवन के लिये राष्ट्र का हित सर्वोपरि है।

हम चाहें जिस प्रान्त में रहें भारतवासी पहले हैं। हम हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध होते हुये भी भाई-भाई हैं अनेकता में एकता और वैविध्य में साम्य भारत की विशेषता है। समन्वय और साम्य में पार्थक्य को स्थान नहीं, थोड़े सामूहिक अहं को नियंत्रित रखने की आवश्यकता है, अपेक्षाकृत संकुचित अहम् को नियंत्रण में रख हम सारे भारत के सामूहिक गर्व में भाग लेने का आनन्द ले सकेंगे; फिर भी हमको अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक बन्धनों से बँधा रहना पड़ेगा। हमारे सामने भक्तियों का प्रश्न है, हम किस भक्ति को वरिष्ठता दें ? धर्म, जाति, प्रान्त सब राष्ट्र से बँधे हुये हैं। राष्ट्र के साथ सबका सहअस्तित्व और समन्वय सम्भव है। 'संघे शक्तिर्कलौयुगे।' हम पार्टियों, जातियों, उपजातियों, सम्प्रदायों और प्रान्तों में बाँट कर देश को संघशक्ति से वंचित न कर दें। हमारे साम्प्रदायिक, प्रान्तीय, भाषाई एवं जातीय अस्तित्व को कायम रखने के लिये स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता आवश्यक है। हाथी

के पैर के समान जातीयता, प्रान्तीयता के ग्रहंवाद देश ग्रौर राष्ट्र के ग्रहं में समा जाना चाहिये, 'धर्मोरक्षति रक्षितः' की भाँति 'देशो रक्षति रक्षितः'।

"हमें भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी राज्यों के ग्रापसी संबंध ग्रौर राज्यों तथा केन्द्र के संबंध हमेशा यह समझते हुए मधुर बनाने चाहिए कि हम सब एक भारतमाता की संतान हैं।

ग्रपने संविधान की दृष्टि से हमारी सब की एक ही नागरिकता है। इसका मतलब यह है कि हम पहले भारतीय है ग्रौर बाद में कुछ ग्रौर। इस भावात्मक एकता के बगैर हमारी सब ग्रार्थिक योजनाएँ बेकार हो जाएँगी। विघटनात्मक शक्तियाँ उनको चूर-चूर कर देंगी।"

—श्री श्रीमन्नारायण

गूँजे भारत के प्राण !
बने यह जीवन स्वर्ग समान।
मेघ के मङ्गल कलश झरें
घरों मे सुख की वृष्टि करें
दिशाग्रो की रंगीन ध्वजा,
गगन के शिखरों तक फहरें।
मिलन-यात्रा के बन पदचिन्ह
धरा पर ग्राये साँझ-बिहान !
बने यह जीवन स्वर्ग समान !
कलह का कोलाहल सो जाय
ग्रविद्या का तम धो जाय
प्राण का, जीवन का नव-रूप
युगों की जयमाला हो जाय।
कोटि कंठों का नाद लिये
उठे जब साम स्वरों में गान।
बने यह जीवन स्वर्ग समान
गूँजे भारत के प्राण !

८

सदोष और निर्दोष राष्ट्रीयता

[कवीन्द्र रवीन्द्र और आचार्य विनोबा के विचार]

'अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' ।।

पंचशील का ले ध्रुव संबल
रक्तहीन नवलोक क्रान्ति हो
दूर भ्रान्ति हो
विश्व शान्ति हो
युद्ध ध्वंस हो हिंस्र समापन,
भरे धरा व्रण
अणु हो रचना श्रम का वाहन
भू-निर्माण सृजन के शुभ क्षण
करे अवतरण
निर्भय हो जन

· —सुमित्रानन्दन पन्त (नेहरू युग से)

"इस लिए हम में बड़प्पन यह नहीं है कि हम और कौमों को दबायें। बड़प्पन यह है कि हम अपने मुल्क को ऊँचा करें और

कौमों से दोस्ती करें, अपना फायदा करें और दुनिया का फायदा करें।"

—जवाहरलाल नेहरू

राष्ट्रीयता एक उदार वृत्ति है, उसमें स्वार्थ अवश्य है किन्तु वह एक उच्चकोटि का बुद्धि सम्मत स्वार्थ है। प्रान्तीयता की अपेक्षा राष्ट्रीयता में उदारता है; किन्तु इस उदारता की सीमा नहीं है। हमारी सहानुभूति विश्व व्यापक हो सकती है, फिर प्रेम और सेवी के अर्थ अपना कार्य-क्षेत्र सीमित करना पड़ता है। हम इस पृथक्-करण का इस लिए पोषण करते हैं कि देश विश्व की एक संगठित इकाई के रूप में अपनी उन्नति और समृद्धि के साथ विश्व का सुख-शान्ति और सम्पन्नता में अपना विनम्र योगदान कर सके। फैला हुआ पानी जमीन को चाहे उर्वरा बना दे किन्तु शक्ति और गति पैदा करने के लिए उसे कूलों की सीमाओं में बाँधना पड़ता है। इस दृष्टि से प्रान्तीयता भी, यदि वह अविरोध भाव से राष्ट्र के एक अङ्ग की पूजा-सेवा के रूप में हो, क्षम्य है। हमको केवल इतना ध्यान रखना चाहिए की अङ्ग की पूजा को एक मात्र ध्येय मानकर अङ्गी की उपेक्षा न कर बैठें, उसका सक्रिय विरोध तो अक्षम्य पाप है। राष्ट्र का, क्या, राष्ट्र के किसी अङ्ग का भी विरोध राष्ट्र का विरोध है। राष्ट्र से स्वतन्त्र व्यक्ति या प्रान्त की समृद्धि असम्भव हो जाती है। प्रेम हम चाहे किसी एक अङ्ग से कर सकते हैं किन्तु वह प्रेम ऐसा न हो कि पार्थक्य के बीजों को पोषण दे। प्रेम चाहे अन्धा हो जैसा कि वैयक्तिक सम्बन्धों में प्रायः होता है, इसमें कोई विशेष क्षति नहीं, किन्तु वैर यदि सूझता भी हो तो उस पर अंकुश रखने की आवश्यकता होती है। हमारा राष्ट्र प्रेम, संगठन, सहकारिता तथा देश की एकसी समस्याओं के हल करने के लिए हो किन्तु वह प्रेम और संगठन आत्म श्रेष्ठता स्थापित करने और

हो। यही घृणा का भाव आक्रमणकारी नीति को जन्म देती है (यही बात वर्णों, सम्प्रदाय और प्रान्तों के सम्बन्ध में भी लागू होती है।)

भारत और अन्य देशों की नीति में मौलिक भेद है। भारत की नीति है--'जीओ और जीने दो' किन्तु भारतेतर शक्तिशाली राज्यों का कार्य संचालन सूत्र रहा है : हम अवश्य जीएँ और यदि दूसरे लोग भी जीवें तो हमारे अर्थ जीएँ। उनका स्वार्थ परार्थ में बाधक होता है और आक्रमणकारी नीति का जन्म होता है। इस आक्रमणकारी नीति को न्याय्य बनाने और उसके वर्तने वाले के आत्म-सन्तोष के लिए उद्धार और उन्नति करने, शिक्षा देने, विकास करने अथवा सभ्य बनाने का भव्य और स्वर्णिम रूप दे दिया जाता है।

भारतीय जातिवाद और योरोपीय राष्ट्रवाद अपनी जन्मजात श्रेष्ठता और शासनाधिकार में विश्वास करता है। दूसरों के उद्धार या उनकी 'मुक्ति' का कार्य होता तो है सेवा या परोपकार के नाम पर किन्तु उस सेवा में जो आत्म-श्रेष्ठता का भाव लगा रहता है और उसमें स्वप्रभुत्व स्थापना की अव्यक्त इच्छा निहित रहती है, वही राष्ट्रीयता को दूषित रूप दे देती है। इस दूषित राष्ट्रीयता में वह धर्मनीति, जो व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में मान्य होती है, स्थान नहीं पाती है। उन लोगों का सिद्धान्त रहता है 'My country right or wrong'. अर्थात् मेरा देश है, मैं उसका पक्ष लूंगा चाहे वह न्यायपूर्ण हो, चाहे अन्यायपूर्ण। मैकेवली ने तो अपनी आत्मा की अपेक्षा अपने देश को महत्ता दी थी--'I prefer my country to the salvation of my soul'. राष्ट्रनीति में तो जिसकी लाठी उसकी भैंस की नीति लागू होती है, भौतिक बल ही न्याय का मापदण्ड बन जाता है। तभी योरुप

में संयुक्तराष्ट्र संघ जैसी संस्थाओं के होते हुए भी युद्ध की विभीषिकाएँ शान्त नहीं होतीं। भारत में युद्ध के साथ भी धर्म का विचार लगा हुआ था। धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र में ही महाभारत का युद्ध घटित हुआ था। धर्म-युद्ध धर्म के लिए युद्ध नहीं होते थे वरन् धर्म के नियमों के अनुकूल युद्ध होता था। महात्मा गान्धी ने राष्ट्र के प्रति वफादारी को ईश्वर के पीछे रखा है—'Loyalty to the country to be always subordinated to loyalty to God.' योरुप में भी ऐसे लोग हुए जिन्होंने राजनीति की अपेक्षा धर्म को महत्ता दी है। डबल्यू० टी० स्टेड ने प्रार्थना की थी कि उनका देश बूअर वार में हार जाय क्योंकि उनके देश का पक्ष धर्म विरुद्ध था।

भारत में योरुप जैसी आक्रमणकारी नीति का अभाव रहा है। साधारणतया तो हमारे यहाँ के लोग धार्मिक मत परिवर्तन में भी विश्वास नहीं करते, राजनीतिक साम्राज्यवाद तो दूर की चीज है। हमारे यहाँ सम्राट् अशोक ने अपना साम्राज्य बनाया था, वह प्रेम और प्रचार द्वारा स्थापित किया गया था। हमारे देश के लोग दूसरों को अभयदान देकर स्वयं अभय रहना चाहते थे। हमारे धार्मिक ग्रन्थों ने विश्व मैत्री का पाठ पढ़ाया है। हमारी शक्ति 'परेषां परिपीड़नाय' नहीं है वरन् 'परेषां रक्षणाय' है। हम उन्नति की दौड़ में आगे रहना चाहते हैं किन्तु दूसरे को गिराकर नहीं। हम पिछड़े रहना पसन्द नहीं करते और आगे आने के लिये सब वैध उपायों को काम में लायेंगे। हमारे नेताओं ने विशेषकर महात्मा गांधी ने केवल लक्ष्य या साध्य की श्रेष्ठता को ही अपने दृष्टिपथ में रखना नहीं सिखाया है, वरन् साधनों की उत्तमता पर ध्यान रखने की भी शिक्षा दी है। भारत की राष्ट्रीयता सत्य और अहिंसा पर आधारित है। उसका ध्येय है सबके साथ सहयोग और सहकारिता के साथ आत्म विकास करते हुये विश्व मैत्री की स्थापना। विश्व-मैत्री हमारा चरम लक्ष्य है, हमारी राष्ट्रीयता इसका ही एक सोपान

है, किन्तु राष्ट्रोय गर्व में उसकी उचित सीमा के उल्लंघन का भय रहता है। 'प्रभुता पाय काहि मद नाहीं' यह बात व्यक्तियों के सम्बन्ध में जितनी सत्य है उससे अधिक सत्य है दलों और राष्ट्रों के सम्बन्ध में। इस मद को सीमा से बाहर होने से बचाने के लिये सह-अस्तित्व, दूसरे देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने आदि के नियम पंचशील के नाम से हमारे यहाँ की राजनीति में प्रतिष्ठित हुए। ये एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय आचारशास्त्र के मूल-सूत्र हैं, इनका समर्थन चीन आदि बाहर के देशों ने भी किया किन्तु इनके अर्थों में खींचतान होने लगी है। प्राय: आन्तरिक मामला कहकर अत्याचार पर आवरण डाला जाता है। वे पंचशील के नियम इस प्रकार हैं—

१—एक दूसरे की राष्ट्रीय एकता और प्रभुसत्ता के प्रति आदरभावना।

२—अनाक्रमण नीति।

३—एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति।

४—समानता के भाव तथा पारस्परिक लाभ।

५—शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

भारत की आत्मा आक्रमणकारिणी दूषित राष्ट्रीयता के विरुद्ध रही है। इसके भीषण प्रभाव से बचने के लिए हमारे देश के नेताओं ने हमको सचेत किया है। उन्होंने दूषित राष्ट्रीयता के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई है। पाठकों के लाभार्थ उनके लेखों के उदाहरण साभार दिये जाते हैं। पहले कवीन्द्र रवीन्द्र के विचार लीजिए—

'योरोपीय सभ्यता की मूलभित्ति राष्ट्रीय स्वार्थ यदि इतनी मात्रा में स्फीति प्राप्त कर ले कि वह धर्म की सीमा का अतिक्रमण

करने लगे, तो उस अवस्था में विनाश का चिह्न दिखाई पड़ेगा और इस मार्ग में शनि प्रवेश करेगा। स्वार्थ की प्रकृति ही विरोध है.......।

....यह हम देख रहे हैं कि यूरोप की यह राष्ट्रीय स्वार्थपरता ने धर्म की अवज्ञा प्रत्यक्ष-रूप से करना आरम्भ कर दिया है.....राष्ट्र-तन्त्र में मिथ्याचरण, सत्य भङ्ग, प्रवञ्चना की गणना अब लज्जाजनक कार्यों में नहीं होती।.........यही कारण है कि फ्रान्सीसी, अंग्रेज, जर्मन, रूसी ये सभी परस्पर को कपटों, पाखंडी, प्रवञ्चक कह कर ऊँचे स्वर से गालियाँ दे रहे हैं।"

इस लिए रविबाबू नेशनेलिज्म के विरोधी हैं 'न रहेगा बाँस न बजे की बाँसुरी'। वे इस दूषित राष्ट्रीयता के विरोधी हैं। वे गृहस्थ धर्म के साथ ही ब्रह्माण्ड पूजा की प्रतिष्ठा करते हैं—'हमारे यहाँ गृहस्थ का जो कर्तव्य निर्धारित है उसमें समस्त जगत के प्रति कर्तव्य संलग्न है। हमने अपने घरों में समस्त ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड पति की प्रतिष्ठा करदी है'—यदि यह आदर्श चरितार्थ कर सके तो ब्रह्माण्ड में अपनी नेशन के साथ दूसरी नेशनें भी आ जाती हैं और यदि सब इसको मानने लगें तब तो कोई झगड़ा ही नहीं। ब्रह्माण्ड में सब राष्ट्र विलीन हो जाते हैं। किन्तु ऐसा होना अव्यावहारिक नहीं तो कठिन अवश्य है। इसको कवीन्द्र भी स्वीकार करते हैं। फिर तो अविरोध भाव की राष्ट्रीयता में ही आराम है। उदार राष्ट्रीयता और विश्व मैत्री में कोई विरोध नहीं। कवीन्द्र रवीन्द्र के विचार हमको यूरुप की दूषित राष्ट्रीयता के मद से बचाये रखने में सहायक होंगे।

आचार्य विनोवा भावे का कथन है कि हम अपने प्रान्त और धर्म से प्रेम कर सकते हैं किन्तु उस पर अभिमान करना तारक नहीं मारक होगा। उनकी दृष्टि में हमको भारतीय होने का अभिमान

करना उचित नहीं। यहाँ पर उनके एक लेख (विश्व मंगल का ध्येय) से उद्धरण देकर उनके मंतव्य को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। उन्होंने सर्वोदय का दार्शनिक आधार देते हुए लिखा है:—

"सर्वोदय से किसी प्रकार भी हलकी चीज हिन्दुस्तान को बरदाश्त न होगी। अनेक प्रकार की जो तुच्छ उपाधियाँ चित्त से लगी हुई हैं, उन सबको दूर करके अपना परिशुद्ध स्वरूप ही पहिचानना और 'मैं व्यापक आत्मा हूँ' इस तरह की अनुभूति नित्य निरन्तर चित्त में रखना, यही एक चीज हिन्दुस्तान को चाहिए.... मैं मराठी, मैं बंगाली, मैं गुजराती, इस तरह की भावना मारक होगी, तारक नहीं होगी....इतना ही नहीं, बल्कि 'मैं भारतीय हूँ' यह अभिमान भी हिन्दुस्तान के कल्याण का नहीं होगा। देश पर, प्रान्त पर, भाषा पर, धर्म पर प्रेम रहे लेकिन अभिमान न रहे।....देश पर प्रेम रक्खे लेकिन अभिमान छोड़े और हम मानव हैं, यही महसूस करें।"

इस व्यापक दृष्टि के लिए उन्होंने कारण भी दिया है:—

"जब कोई अभिमानी संघटना पैदा होती है तब वह हिंसक शक्ति को आह्वान करती है। और हिंसक शक्ति जब किसी राष्ट्र में खड़ी होती है तब वैसी दूसरी शक्ति अन्यत्र निर्माण होती है। और इस प्रकार अनेक हिंसक या अभिमानी संघटनाएँ दुनियाँ में अगर पैदा होती हैं तो शक्ति का जोड़ नहीं बल्कि शक्ति का ह्रास होता है—इसके विपरीत अभिमान रहित प्रेमाधिष्ठित, निरहंकार और व्यापक संघटना जब किसी देश में निर्माण होती है, तब अपने जैसी दूसरी संघटना को प्रेरणा देती है। वे दो या तीन या जितनी भी होंगी, दुनियाँ की शक्ति को बढ़ाती हैं उससे शक्ति संवर्धन होता है।" पाकिस्तान इसी दूषित गर्व के कारण हिन्दुस्तान के ऊपर फौजी शक्ति का आतंक जमाना चाहता है, इसके मूल में भारत से कल्पित बैर और तज्जनित भय का भाव है। इस भय को निवारण

करने के लिए उसे अमरीका का सहारा लेना पड़ता है। भारत को भी अपनी सैन्य शक्ति पर अधिक रुपया खर्च करना पड़ता है। दोनों देशों को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है और दोनों देशों की विकास कार्यों में बाधा पहुँचती है। पाकिस्तान को यह सोचना चाहिए कि यद्यपि उसका राजनीतिक पार्थक्य हो गया है तथापि आर्थिक और सांस्कृतिक पार्थक्य होना कठिन है। आर्थिक दृष्टि से दोनों देश एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक देश को दूसरे देश की उपज और उत्पादित वस्तुओं की आवश्यकता रहती है। दोनों में कुछ नदियाँ समान रूप से बहती हैं। एक धर्म के तीर्थ स्थान दूसरे देश में हैं। मुसलमानों के तीर्थस्थान जैसे अजमेर शरीफ हिन्दुस्तान में हैं, सिक्खों के गुरुद्वारे पाकिस्तान में हैं। एक दूसरे का साहित्य एक दूसरे के देश में है। लाहौर की ओरियन्टल लाइब्रेरी में बहुत से अमूल्य संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थ हैं, और हिन्दुस्तान के पुस्तकालयों में फारसी, अरबी की पुस्तकें सुरक्षित हैं। संगीत नृत्य दोनों देशों में समान हैं। 'तोहि मोहि नाते अनेक मानिए जो भावे'। पाकिस्तान का दूषित राष्ट्रीय गर्व ही उसे हिन्दुस्तान से अकारण भय दिला रहा है और खुले दिल का सहयोग देने में बाधक हो रहा है, नहीं तो दोनों देश राजनैतिक रूप से अलग होते हुए भी अधिक समृद्ध, सुखी और आत्म निर्भर रह सकते हैं।

मन नहीं मिलता तो क्या हुआ ?
आओ हम साथ साथ रहें
एक दूसरी की सुनें और सहें
जो असह्य है,
उसको भी सहें
एक दूसरे में झाँके
अन्दर उपेक्षित पड़े मोतियों को आँके

—गोपाल कृष्ण कौल

विनोबा जी के विचार भारत की अन्तरात्मा के निकट हैं। जैसा वैयक्तिक सेवा में अहं का निराकरण आवश्यक है वैसा ही राष्ट्रीयता में से भी अहं का भाव निकाल देना वाञ्छनीय होगा। यद्यपि यह ठीक है कि दुनियाँ एक राज्य की ओर जाने के शुभ संकल्प कर रही है, तथापि व्यवहार में इस आदर्श का चरितार्थ होना कठिन है। हम विश्वमैत्री का लक्ष्य रखें अवश्य और विश्व के एक अंग के रूप में ही राष्ट्र की सेवा करें किन्तु हम निकट के लोगों को भूल न जावें, चिराग तले अँधेरे की बात न हो। विश्व से पहले राष्ट्र हमारी सेवा और बलि चाहता है। वैसे तो हमारा लक्ष्य सब भूत हित रत होना चाहिए किन्तु जैसे मानव सेवा के साथ भूत सेवा लगी हुई है वैसे ही राष्ट्र सेवा के साथ विश्व सेवा लगी हुई है। विनोबा जी के कथन के अनुकूल हमारी संगठना ऐसी हो जो प्रेमनिष्ठ और निरहंकार हो। हम भारतीय होने का गर्व करते हुए भी हिंसात्मक प्रवृत्तियों से बचे रहें, भारत ऐसी ही राष्ट्रीयता के लिए प्रयत्नशील है। ईश्वर हमें सद्बुद्धि और साहस दे।

गण-गण में गुण-गण विकसित हों, कण-कण से कायरता भागे,
मन-मन में भद्रभाव उमगे, जन जन में नैतिकता जागे।
समता, स्वतन्त्रता बन्धु भाव से गूँज उठे पृथिवी सारी,
यह लोक 'सत्य सुन्दर' हो, मानवता मंगलकारी॥
रण रोप-रोप नरमेध न हों, सुख-शान्ति, प्रेममय प्राणी हों,
वसुधा कुटुम्ब-सम बन जाए, मानव गति मति कल्याणी हो।
जन सेवा नित निष्काम करें, सहयोग नीति अपनाएँ सब,
सतयुग-सा युग फिर आ जाए, घर-घर को स्वर्ग बनाएँ सब॥

—हरिशंकर शर्मा 'कविरत्न'

९

साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

"दुनियाँ के जितने धर्म हैं वे सब अच्छे हैं, क्योंकि वे भलाई सिखाते हे। जो दुश्मनी सिखाते हे उनको मैं धर्म नहीं मानता हूँ।

× × × ×

पण्डित, पादरी और मुल्लाओ। मेरी बात सुनो। धर्म का मतलब सत्य यानी ईश्वर प्राप्ति है। धर्म प्रेम का पन्थ है। फिर घृणा कैसी, द्वेष कैसा, मिथ्याभिमान कैसा? छोड़ो इन्हें और परस्पर गले मिलो।"

—महात्मा गान्धी

मनुज जीवन है अनमोल
साधना है वह एक महान्।
सभी निज संस्कृति के अनुकूल
एक हो रचें राष्ट्र उत्थान।

—साकेत संत

भारत एक स्वतन्त्र राष्ट्र है। राष्ट्र के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके रहने वाले एक जाति व सम्प्रदाय के ही हों। राष्ट्र एक राजनीतिक इकाई है। उसके निवासियों के राजनीतिक

हितों की एकध्येयता और शासन की एक सूत्रता उनमें संगठन स्थित रखने के लिए आवश्यक है। सभी सम्प्रदाय और सभी प्रान्त राष्ट्र के अंग हैं।)राष्ट्र का हित सबका सम्मिलित हित है। ऐसी चेतना ही राष्ट्रीयता का मूल है।

राष्ट्र सबके हित के लिए है। उसके लिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिख सब बराबर हैं। वह किसी जाति विशेष का नहीं है और न किसी जाति विशेष को उसमें विशेष अधिकार है, सभी उसके संरक्षण और पोषण के समान रूप से अधिकारी हैं। सबके उसमें समान अधिकार और कर्त्तव्य हैं। सब पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं। जब तक कि वे दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक न हों और राजकीय नियमों का पालन करते रहें।

साम्प्रदायिकता उस सीमा तक क्षम्य है जहाँ तक कि वह अपने लोगों की सांस्कृतिक उन्नति में सहायक होती है? साम्प्रदायिकता वहीं दूषित हो जाती है जहाँ पर कि वह अपने लोगों के लिए दूसरों की अपेक्षा विशेषाधिकार चाहने लगती है। अपने-अपने धर्म का अविरोध रूप से पालन करते रहना साम्प्रदायिकता नहीं। अपने धर्म को बल-पूर्वक दूसरों पर लादना या अपनी सुविधा के आगे दूसरों की सुविधाओं का ध्यान न रखना साम्प्रदायिकता का दूषित रूप है।)

साम्प्रदायिकता के इसी दूषित रूप ने देश में दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को जन्म दिया और देश के विभाजन सम्बन्धी असंख्य यातनाएँ और भीषण मारकाट के दृश्य इसी के फलस्वरूप देखने में आए। इसकी प्रतिक्रिया भारत में भी हुई। महात्मा गान्धी घृणा को प्रेम से जीतना चाहते थे। यह बात कुछ लोगों की समझ में न आई, इसीलिए साम्प्रदायिक रोष की वेदी पर उनका बलि-

दान हुआ। घृणा घृणा को ही बल देती है। घृणा का तारतम्य एक ओर से बन्द करने पर ही टूटता है। हमारी सरकार ने साम्प्रदायिकता के उन्मूलन में किसी जाति का पक्ष नहीं किया। इसी कारण साम्प्रदायिक दंगों का जल्दी शमन हो सका।

राष्ट्र को समृद्ध और सम्पन्न बनाने के लिए सम्प्रदायों में अविरोध ही नहीं वरन् पारस्परिक प्रेम भी अपेक्षित है। पारस्परिक आदान-प्रदान में ही दोनों सम्प्रदायों की अभिवृद्धि की आशा है। विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है। कुछ लोग स्वभाव से अवश्य बुरे होते हैं, किन्तु कोई इतना बुरा नहीं कि उस पर सच्चे हृदय से की हुई भलाई का प्रभाव न पड़े।

प्रत्येक सम्प्रदाय के लोग अपने-अपने धर्म और अपनी-अपनी संस्कृति के अनुकूल जीवन यापन करने में स्वतन्त्र हैं। राष्ट्र किसी के धर्म और संस्कृति में बाधक नहीं है और न एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय की धर्म और संस्कृति में बाधक होना चाहिए। धर्म एकता का द्योतक है। उसे पार्थक्य का साधन न बनाना चाहिए। जो सम्प्रदाय अपने धर्म का आदर चाहता है उसे दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिए। सब धर्म मूल में एक ही हैं। सभी धर्म मनुष्य के साथ सद्व्यवहार सिखाते हैं। ईश्वर किसी विशेष धर्म या जाति का नहीं। सर्व व्यापक किसी एक सम्प्रदाय में सीमित नहीं हो सकता। इसीलिए कबीर और गान्धी जैसे उदार नेता महात्माओं ने राम और रहीम को एकता मानी है। 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान'। आकृति, वेष, वर्ण, रीति, रिवाज यह सब ऊपरी वस्तुएँ हैं। अन्तर्दृष्टि डालने पर सबमें एक ही प्राण का स्पन्दन दिखाई देता है। उसी विश्वात्मा से सभी अनुप्राणित हैं। इस सम्बन्ध में गुप्त जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं--

आकृति, वर्ण और वह वेष,
यह सब निज वैचित्र्य विशेष।
डालो अन्तर्दृष्टि निमेष,
देखो अहा! एक ही प्राण,
विश्व बन्धुता में ही त्राण॥

धर्म के मूल में पार्थक्य नहीं। ईश्वर प्राप्ति के साधनों और आराधना के प्रकारों में अन्तर हो सकता है किन्तु यह अन्तर पार्थक्य का कारण नहीं बन सकता है। जहाँ तक राष्ट्रीय हितों का प्रश्न है, वहाँ तक हिन्दू मुसलमान में कोई अन्तर नहीं। सबको अन्न, वस्त्र और रहने को मकानों की आवश्यकता होती है। सबको औषधालयों और न्यायालयों की अपेक्षा होती है। फिर पार्थक्य किस बात का ?

राष्ट्रीय विषयों में पार्थक्य भावना का पोषण करना राष्ट्र के लिए घातक है। पृथक् निर्वाचन एवं काउन्सिलों में स्थान सुरक्षित रखने के परिणाम स्वरूप ही तो दो राष्ट्र की कल्पना को प्रोत्साहन मिला और देश का विभाजन हुआ। पार्थक्य की भावना को दूर हटा कर संयुक्त निर्वाचन ही देश के लिए हितकर है। संयुक्त निर्वाचन के साथ-साथ बहुसंख्यक जातियों पर इस बात का उत्तर-दायित्व आ जाता है कि इस संयुक्त निर्वाचन के कारण अल्प-संख्यकों के हितों की हानि न हो। उनके योग्य व्यक्तियों को चुनाव में आ जाना चाहिए। बहु संख्यकों की अनुदारता ही पार्थक्य की भावना को जन्म देती है।

सरकारी नौकरियों में जातियों के अनुपात से स्थान सुरक्षित कराना उचित नहीं है। नौकरियों में जो चुनाव हो वह खुली प्रति-द्वन्द्विताओं द्वारा ही हो। उसमें चुनने वाले लोगों को सम्प्रदाय और बिरादरी की भावना से परे होना चाहिए। अल्पसंख्यक लोग शिक्षा

में पिछड़े हों तो उनको शिक्षा में ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना आवश्यक है किन्तु अल्पसंख्यकों को खुश करने की खातिर अयोग्य व्यक्तियों की भर्ती करना ठीक नहीं।

साम्प्रदायिकता चाहे मुसलमानों में हो, चाहे हिन्दुओं में, बुरी है। राष्ट्र को तो साम्प्रदायिकता के विष से दूर रहना चाहिए। साम्प्रदायिक ऐक्य के लिए संस्कृतियों का एकीकरण भी आवश्यक नहीं। सम्प्रदाय वाले अपनी-अपनी संस्कृति रखते हुये एक दूसरे के प्रति उदार रह सकते हैं, और राष्ट्रीय हित के साधक बन सकते हैं। बलपूर्वक अपनी संस्कृति या अपना धर्म दूसरों पर लादना पाप है किन्तु शान्तिमय साधनों द्वारा सबको अपने-अपने धर्म के प्रचार की भी स्वतन्त्रता है। धर्म विश्वास की वस्तु है और विश्वास बलपूर्वक नहीं उत्पन्न किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में डा० बल्देव प्रसाद द्वारा लिखित 'साकेत संत' की निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं--

सभी निज संस्कृति के अनुकूल,
एक हो रचें राष्ट्र उत्थान।
इसलिए नहीं कि करें सशक्त,
निर्बलों को अपने में लीन,
इसलिए कि हों विश्व हित हेतु,
समुन्नति पथ पर सब स्वाधीन ।।

साम्प्रदायिक सामंजस्य के लिये परधर्म सहिष्णुता आवश्यक है। धर्म में कट्टर बने रहना बुरी बात नहीं है किन्तु वह कट्टरता इस हद तक न जानी चाहिए कि वह दूसरों को अपना धर्मपालन करते हुये न देख सके। इस सम्बन्ध में पूज्य महामना मालवीय जी के निम्नलिखित उपदेश को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

विश्वासे दृढ़ता स्वीये पर निन्दा विवर्जनम् ।
तितिक्षा मत भेदेषु प्राणिमात्रेषु मित्रता ।।

अर्थात् अपने विश्वास में दृढ़ता और पराई निन्दा से दूर रहना, मतभेदों को छोड़ देना, सामान्य बातों को ग्रहण कर लेना, भेद की बात को उपेक्षा की दृष्टि से देखना और प्राणिमात्र से मित्रता रखना चाहिए।

साम्प्रदायिक झगड़े जो होते हैं वे इसी परधर्मसहिष्णुता के अभाव और अपनी टेक रखने के मिथ्याभिमान के कारण होते हैं। धर्मों में कोई बड़ा और छोटा नहीं। सभी धर्म ईश्वर की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न साधन हैं। 'रुचीनां वैचित्र्याद ऋजु कुटिल नानापथ-जुषां त्वमेकः गम्यः पयसामर्णवइव'—रुचियों की विचित्रता के कारण लोग टेड़ा और सीधा मार्ग ग्रहण करते हैं, तुम ही एक सबके गम्य स्थान हो जिस तरह से सब नदियों का एक लक्ष्य समुद्र ही है। यदि हम में यह भावना आ जाय तो साम्प्रदायिक झगड़े बन्द हो जायं। साम्प्रदायिक झगड़ों से देश की शक्ति क्षीण होती है और पारस्परिक वैमनस्य जड़ पकड़ जाता है। एक बार वैमनस्य स्थापित हो जाने पर भय और अविश्वास की मनोवृत्ति जाग्रत हो जाती है। जहाँ पारस्परिक भय होता है वहाँ या तो पलायन वृत्ति का पोषण होता है या हिंसा का। दोनों ही मनोवृत्तियाँ जाति को पतन की ओर ले जाती हैं। महात्मा गान्धी ने वीरों की अहिंसा का प्रचार किया है जो निर्भय होकर अहिंसात्मक साधनों से अत्याचार का सामना करती है। वीरों की अहिंसा में दूसरों को मारने की अपेक्षा अपने प्राणों का बलिदान करना अधिक श्रेयष्कर समझा जाता है।

सबसे पहले तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिए जिसमें साम्प्रदायिक झगड़े असम्भव हो जायँ। सबल होते हुए भी दूसरे

पक्ष को शान्ति और उदारता की नीति से जीतने का प्रयत्न करना चाहिए और सत्य के आग्रह में बिना दूसरे पर हाथ उठाए आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर देना चाहिए। यही महात्माजी का उपदेश है।

राष्ट्र को सशक्त बनाने की आवश्यकता है। साम्प्रदायिक एकता से राष्ट्र की शक्ति बढ़ेगी और पारस्परिक प्रेम-भाव के कारण सभी सम्प्रदाय समुन्नत और समृद्धशाली बन सकेंगे।

(जिस प्रकार साम्प्रदायिकता राष्ट्रीयता में बाधक होती है उसी प्रकार राष्ट्रीयता, जब अपनी उचित सीमाओं का उल्लंघन करने लगती है तब वह अन्तर्राष्ट्रीयता में बाधक होने लगती है।) अपनी राष्ट्रीयता पर गर्व करना अच्छा है, उसकी शक्ति बढ़ाना भी किसी अंश तक आवश्यक होता है किन्तु शक्ति का प्रयोग 'परेषां परपीड़नाय' न होना चाहिए। उसका स्व और पर के रक्षण में ही उपयोग होना वांछनीय है। आजकल की राष्ट्रीयता जो महायुद्धों की मूल आधार-भित्ति रही है, वैयक्तिक स्वार्थ साधन का एक बृहत संस्करण है। ऐसी राष्ट्रीयता न धर्म के बन्धनों को मानती है और न जाति के। इसके मूल आर्थिक कारणों के अतिरिक्त वृथा जातीय अभिमान भी काम करता है। आर्थिक कारणों में अपने माल की खपत और अपने आदमियों को रोजगार दिलाना है। किन्तु इसके लिए दूसरे राष्ट्रों को अपने अधीन बनाना अन्याय है। ऐसी राष्ट्रीयता मानवता की विरोधिनी और युद्ध की जननी होती है। हमको अपने राष्ट्र का हित चिंतन करते हुए दूसरे राष्ट्रों को दबा कर रखने की न सोचना चाहिए। 'जीओ और जीने दो' की नीति का पालन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी आवश्यक है। राष्ट्रीयता यदि उचित सीमा में रहे तो वह मानवता में बाधक नहीं हो सकती। विश्व के एक राष्ट्र होने की कल्पना चाहे चरि-

तार्थ हो सके या न हो सके किन्तु स्वतन्त्र राष्ट्रों में पारस्परिक साम्य की सम्भावना व्यवहार के क्षेत्र से बाहर नहीं। सब राष्ट्रों की उन्नति में सहायक होना विश्व शान्ति की ओर अग्रसर होना है। विश्वशान्ति में ही अपनी रक्षा और उन्नति है। हमारे यहाँ का पंचशील का सिद्धान्त, जिसको अनेक देशों ने अपनाया है, अन्तर्राष्ट्रीय आधार शास्त्र का मूल सूत्र बन सकता है। इसके मानने में विश्वशांति की आशा है।

जी से प्यारा जगत हित
औ लोक सेवा जिसे है,
प्यारी! सच्चा अवनितल में
आत्म त्यागी वही है॥

— अयोध्यासिंह उपाध्याय

यदि व्यक्ति केवल आत्म-केन्द्रित रहता है तो पूर्णतया उन्नत और विकसित नहीं कहा जा सकता है। जिस देश ने हमको जन्म दिया है, जिसको पृथ्वी और जलवायु से हमारा शरीर पुष्ट हुआ है, जिसकी शिक्षा संस्थाओं में हमको शिक्षा मिली है, जिसके न्याय-विधान ने हमारे शरीर और धन की रक्षा की है, जिसको सड़कों पर हम चलते हैं और जिसके उद्यानों में हम अमोद-प्रमोद करते हैं, उससे हम उऋण नहीं हो सकते हैं। देश ने हमको उन्नत और सम्पन्न बनाया है, देश को उन्नत और सम्पन्न बनाना हमारा कर्त्तव्य है, देश के प्रति गर्व की भावना रखने मात्र से हमारे कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। हमारी भावना को सेवा-का क्रियात्मक रूप धारण करना चाहिए। देश सेवा के कई क्षेत्र हैं उनमें मुख्य-मुख्य पर यहाँ विचार किया जाता है।

स्वकर्त्तव्य पालन—देशवासियों का देश के प्रति सबसे बड़ा कर्त्तव्य है कि वे अपने को उन्नत बनाएँ और अपने कर्त्तव्य को ईमानदारी से करें। प्रत्येक कार्य देश-सेवा का कार्य है यदि उसमें स्वार्थ-बुद्धि को मर्यादा के भीतर रखा जाय अर्थात् अपने स्वार्थ को दूसरों के स्वार्थों पर आक्रमण न करने दिया जाय। आजकल ईमानदार आदमियों की बहुत कमी है। हम नीच से नीच काम को अपनी ईमानदारी से ऊँचा उठा सकते हैं। पुलिस की नौकरी हो, चाहे चुंगी की और चाहे न्यायाधीश की यदि कर्त्तव्य-बुद्धि से की जाती है तो वह भी देश सेवा का अङ्ग है। अपने कर्त्तव्य को हम निष्काम बुद्धि से करें, धन और भोग के लालच से न करें। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। फल अपने आप आते हैं। काम करना हमारा काम है, फल देना ईश्वर और समाज का काम है। किसी पार्टी या दल के सदस्य इसलिए न बनें कि वह शक्ति-सम्पन्न है वरन् इसलिए कि हम उसके सिद्धान्तों से पूरी तरह सहमत हैं। जो काम सौंपा जाय उसको पूर्ण मनोयोग से किया जावे। काम

करने में आलस्य या फिजूलखर्ची उतना ही पाप है जितना कि चोरी। हम जिन बातों में सहयोग दे सकते हैं उनमें पूर्ण सहयोग दें। असहयोग और संघर्ष की मात्रा को यथासम्भव कम करें। हम यदि अपने अधिकारों के लिए भी लड़ें तो इस बुद्धि से लड़ें कि उनको प्राप्त करके हम देश की अधिक सेवा कर सकेंगे। यदि हमको सरकार की आलोचना करनी है तो सरकार की कठिनाइयों को पूर्ण सहानुभूति के साथ ध्यान में रखते हुए करें। यदि सरकार में कोई त्रुटियाँ देखें तो उनको अपनी ही त्रुटियाँ समझ कर उनके उन्मूलन का प्रयत्न करें।

समता का व्यवहार—देशवासियों के प्रति हमारा दूसरा कर्त्तव्य है कि हम सबके साथ समता का और सहृदयता का व्यवहार करें। हर एक मनुष्य का, जो अपना काम करता है, मूल्य है। इसलिए हमको किसी को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। मानवता की भी यही माँग है कि किसी को भी अपने कर्त्तव्य अथवा जन्म के कारण नीचा न समझा जाय। दूसरों को हीनता भाव के अनुभव से बचाना श्रेष्ठता का द्योतक है। प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि वह स्वयं अपने सद्व्यवहार से लोगों में प्रेम का व्यवहार बढ़ाए और दूसरों में घृणा का भाव कम करे। घृणा घृणा की जननी है। मनुष्य अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करें किन्तु उनका धर्म दूसरों को अपमानित न करे। यदि हम दूसरों को अपमानित करते हैं तो हम दूसरों के सम्मान के अधिकारी नहीं रहते। मिष्ट भाषण तो अपने चपरासी और नौकरों के साथ भी करना चाहिए। मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के सम्बन्ध में सबके अधिकार बराबर हैं। नेता वही बन सकता है जो अपने साथियों का पूरा-पूरा ध्यान रखता है। हम जो सेवा कार्य करें, स्कूल या अनाथालय के अधिकारी बनें तो दूसरों पर अधिकार जमाने के लिए नहीं वरन् सच्चे सेवा भाव से उस कार्य को अपनावें।

हमको दूसरों की गरज को अपनी गरज समझनी चाहिए। जो मनुष्य हमारे पास कोई गरज या प्रार्थना लेकर आता है वह हमारा उपकारक है। वह हमको कर्त्तव्य पालन का एक अवसर देता है। उसका अधिकार है कि वह हमसे अपना सुख दुख कहे। मानवता तो यहाँ तक चाहती है कि गर्जी के घर स्वयं जायँ और उसकी गर्ज पूरी करें किन्तु समय और शक्ति सीमित होती हैं। फिर भी लोगों की न्यायोचित माँगों को जितना हम पूरा कर सकें उतना बिना बदले की आशा से करें। अधिकारियों को चाहिए कि वे आवश्यक रूप से किसी को अपनी प्रतीक्षा में आवश्यकता से अधिक न बिठलायें और दूसरों के समय का उतना ही ध्यान रखें जितना अपने समय का। अधिकारी लोग सच्चे अर्थ में जन-सेवक बनें और वे आतङ्कवाद को प्रोत्साहन न दें। आतङ्कवाद भय की मनोवृत्ति का पोषण करता है, यह मनोवृत्ति जाति को कमज़ोर बनाती है। यदि कर्त्तव्य का भार हमारे ऊपर आता है तो हम समझें कि यह हमारी परीक्षा है, हमको यदि परीक्षा में सफल होना है तो हम उसको बिना झूँझल और घबराहट के प्रसन्नता के साथ पूरा करें। हम कर्त्तव्य-पालन की प्रसन्नता का अनुभव करना सीखें। जो कर्त्तव्य पालन में प्रसन्नता है वह कर्त्तव्य से भागने में नहीं।

शिक्षा—देश और जाति के उत्थान के लिए शिक्षा पहला सोपान है। बिना शिक्षा के देश न तो कृषि सम्बन्धी उन्नति कर सकता है और न औद्योगिक। वैज्ञानिक शिक्षा का अभाव ही हमारे औद्योगिक पिछड़ेपन का मूल कारण है। हमारे लुहार मजदूरों को सैद्धान्तिक ज्ञान का अभाव रहता है इसीलिए वे नए आविष्कार करने में असमर्थ रहते हैं। शिक्षा के बिना मनुष्य अपने प्रारम्भिक अधिकारों की मांग नहीं कर सकता है और न वह अपने

शिक्षा के अभाव के कारण अस्वस्थ वातावरण में रहते हैं और अपने धन का सदुपयोग नहीं कर सकते हैं। शिक्षा के लिए जितना लिखा जावे उतना ही थोड़ा है। शिक्षा से मनुष्य मनुष्य बनता है।

प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह इस बात को देखे कि उसके बालकों और नगर के अन्य बालक-बालिकाओं की ठीक ठीक शिक्षा होती है अथवा नहीं। यदि नहीं होती तो किस कारण। यदि पाठशालाओं में सुधार की आवश्यकता हो तो उनको शिक्षा के लाभ बतलावें और उनके बालकों के लिए शिक्षा सुलभ करवाने का प्रयत्न करें। शिक्षा केवल बालक-बालिकाओं के लिए ही अपेक्षित नहीं वरन् प्रौढ़ों के लिए भी अपेक्षित है। दूसरे देशों की अपेक्षा हमारा देश शिक्षा में बहुत पिछड़ा हुआ है। प्रत्येक शिक्षित का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने देश से निरक्षरता के कलङ्क को मिटावे।

स्वास्थ्य और सफाई—देश का प्रत्येक व्यक्ति देश की मूल्यवान धरोहर है। उसका स्वस्थ रहना उसके लिए ही नहीं वरन् देश के लिए आवश्यक है। सफाई स्वास्थ्य का पहला सोपान है। अपनी वैयक्तिक सफाई तो आवश्यक है ही किन्तु उसके साथ नगर की सफाई में भी योग देना देश सेवा का एक रूप है। यदि समय हो तो नगर की ही सफाई में नहीं वरन् गाँव में भी जाकर सफाई की शिक्षा देना और उस सफाई में व्यावहारिक रूप से सहयोग देना हमारा नागरिक कर्त्तव्य है। केवल उपदेश देने वाले की बात कम सुनी जाती है। काम करने वाले का आदर होता है। स्वास्थ्य के लिहाज से भी हमारा देश बहुत पिछड़ा हुआ है। प्रायः पन्द्रह लाख आदमी हर साल मलेरिया के शिकार होते हैं। तीन मरीज में केवल एक ही मरीज को कुनीन मिल पाती है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने देशवासियों की स्वास्थ्य रक्षा में सहायता करें।

अस्पतालों तक मरीजों को पहुँचावें और उनके लिए औषधियों का प्रबन्ध करावें।

आर्थिक उन्नति—जिस प्रकार व्यक्ति का धनहीन जीवन निरर्थक है वैसे ही समाज का भी। जो नागरिक सम्यक् आजीविका द्वारा धनोपार्जन नहीं करता वह समाज का घातक है। नागरिक को चाहिए कि स्वयं बेकार न हो और दूसरों को बेकारी से बचावे। जो बेकार हों उनके लिए बेकारी दूर करने का साधन उपस्थित करें। नगर और देश में उद्योग-धन्धों की वृद्धि में सहायता दें। जो लोग विद्या या अनुभव के अभाव से अपना व्यवसाय या व्यापार नहीं बढ़ा सकते उनको अपनी विद्या और अनुभव से सहायता करें। अच्छे नागरिकों को चाहिए कि वे स्वयं भी ऐसा व्यापार करें जिससे कि देश समृद्ध हो और देशवासियों की आवश्यकताएँ देश में ही पूर्ण हो सकें।

देश की आर्थिक उन्नति के लिए स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार अत्यन्त आवश्यक है। अब विदेशी राज्य नहीं है। अब विदेशी वस्तुओं को खरीदने की हमको किसी प्रकार की मजबूरी नहीं है। देश का धन जितना बाहर जाता है उतना ही वह गरीब होता है। हमको अपने देश की बनी हुई वस्तुओं पर गर्व करना चाहिए। शौक और ठाठ-बाट की वस्तुओं के लिए हमको अपना धन विदेश में बहाना देशवासियों के प्रति अन्याय है।

हमको देश के कृषि कार्यों और उद्योग धन्धों की वृद्धि में सहायक होना चाहिए। यदि देश का उत्पादन उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं होगा तो हम स्वदेशी का व्रत पालन करने में असमर्थ रहेंगे। हमारे देश का उत्पादन वैज्ञानिक जानकारी के अभाव के कारण बहुत पिछड़ा हुआ है। हमारे यहाँ गेहूँ की पैदावार पहले

से ही कम थी। पंजाब के पाकिस्तान में चले जाने से वह और भी कम हो गई है और जनसंख्या बढ़ गई है। उद्योग धन्धों में यद्यपि हम बहुत से देशों से आगे हैं फिर भी उन्नत देशों से पिछड़े हुए हैं। अधिक अन्न उत्पादन और उद्योग धन्धों की समृद्धि के लिए देश में रक्षा और शान्ति की आवश्यकता है।

रक्षा और शान्ति—यद्यपि रक्षा और शान्ति पुलिस और मजिस्ट्रेटों का कार्य है, तथापि उसमें नागरिकों का सहयोग आवश्यक है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह वास्तविक अपराधियों का पता लगाने में सहायता दे और इसी प्रकार बेगुनाहों को पुलिस के अत्याचार से बचाने का उद्योग करे। न्याय में व्यक्तिगत सम्बन्धों और प्रलोभनों को स्थान देना उचित नहीं। नागरिकों को चाहिए कि वे देश की रक्षा के लिए फौजी स्वयंसेवकों अथवा सेवा-समितियों में काम करें क्योंकि नगर की रक्षा देश की रक्षा पर आश्रित है। चोर बाजारी और भ्रष्टाचार रोकने में भी हमको सहायक होना चाहिए। नागरिक को चाहिए कि वह समाज को केवल चोर-डाकुओं से ही रक्षित न रखे वरन् उन लोगों से भी रक्षित रखे जो सभ्यता के आवरण में लोगों को ठगते हैं।

हमको यह भी चाहिए कि आपस में लड़ाई-झगड़े के कारणों को उपस्थित न होने दें। यदि नगर में शान्ति भंग होती है तो दुर्जन तो आपस में लड़ते हैं और सज्जनों की हानि होती है। जो व्यक्ति लड़ाई के कारण उपस्थित होते हुए देखकर उपेक्षाभाव से मौन रहता है वह उस लड़ाई में सहायक होता है। हाँ, विरोध के शमन के लिए भी यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके लिए ऐसे उपाय काम में न लाए जावें, जिनसे विरोध बढ़े, वरन् शान्ति और प्रेम के साथ, शान्ति स्थापित की जाय। मिल मजदूरों और पूंजीपतियों के झगड़े उत्पादन कार्य में बहुत बाधक होते हैं। अच्छे

नागरिकों को चाहिए कि खाई को अधिक चौड़ा होने से बचावें। विद्यार्थियों और कालिज के अधिकारियों के झगड़े कभी-कभी भयङ्कर रूप धारण कर लेते हैं। सच्चे देश सेवक को ईमानदारी के साथ अपना नैतिक बल डालकर झगड़ों के सुलझाने और समझौता कराने में योग देना चाहिए। आन्तरिक शान्ति बाह्य शान्ति के लिए एक आवश्यक उपकरण है। आन्तरिक शान्ति में योग देना प्रत्येक नागरिक का पुनीत कर्त्तव्य है। भारत स्वयं तो शान्तिमयी अनाक्रमणकारी नीति को वर्तता है, वह सबसे मैत्री का व्यवहार रखता है, किन्तु वह दूसरों की हिंसा वृत्ति और अर्थलोलुपता को रोक नहीं सकता है। उसे दूसरे के आक्रमण के लिए सदा सचेत रहने की आवश्यकता है। प्रतिरक्षा का भार सैनिकों पर तो है ही किन्तु हमारे युवकों पर उससे कमी नहीं है। देश के उत्तराधिकारी वे ही हैं। अपनी सम्पत्ति की तन-मन-धन से रक्षा करना उनका धर्म है। स्वतन्त्रता बड़े बलिदानों के फलस्वरूप प्राप्त हुई, उसकी रक्षा के लिए उससे अधिक बलिदानों के लिए तैयार रहना आवश्यक है। भारत युद्ध को यथा सम्भव रोकेगा किन्तु यदि युद्ध का सामना करना ही पड़े तो वह वीरों की भाँति बलिदानों के लिए तैयार रहेगा। स्वतन्त्रता का बड़ा उत्तरदायित्व है। उस उत्तरदायित्व को निभाना हमारे विद्यार्थियों का कर्त्तव्य है।

राजनीतिक उन्नति—राजनीति के सम्बन्ध में बड़ी सावधानी और धैर्य की आवश्यकता है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह नेता बने। जहाँ बहुत से नेता होते हैं वहाँ विनाश के साधन उपस्थित हो जाते हैं। धैर्य, दृढ़ता और निश्चय के साथ किया हुआ कार्य सफल होता है। सत्य का अवलम्ब लेकर निर्भयता से कार्य करना चाहिए। जहाँ पर मताधिकार का प्रश्न हो, वहाँ नागरिक की राय ली जावे, वह स्वतन्त्रतापूर्वक दे, उसमें वह किसी का पक्षपात न करे। धन और मान के प्रलोभनों से विचलित न हो

और न बन्धुत्व, जाति और साम्प्रदायिकता का ख्याल करें। मेताधिकार का सदुपयोग हो लोकतन्त्र की सफलता का मूल साधन है।

राजनीतिक उन्नति के लिए वह इस बात का ध्यान रक्खे कि वह राजनीतिक व्यवस्था उत्तम है जिससे समाज में शान्ति और साम्य स्थापित रहे, सबको समान अधिकार रहें, कोई अपनी जाति या मत के कारण समाज के किसी लाभ से वंचित न रहे। सबको अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के विकास और उनके उपयोग से न्यायानुकूल लाभ उठाने के समान अवसर मिले, उचित कार्य करने में किसी की स्वतन्त्रता में बाधा न आवे, सबका—चाहे, वह पदाधिकारी हो और चाहे साधारण पुरुष—मान और गौरव रहे, लोग भूखे न मरें, किसानों का भार हलका हो, बेकारों की बेकारी कम हो, सम्पत्ति की रक्षा हो, धर्म के शान्ति पूर्वक आचरण में बाधा न पड़े, देशवासी देश की उन्नति के साधनों का स्वयं निर्णय कर सकें, और देश के सुचारु रूप से शासन का और उसकी रक्षा का स्वयं अपने ऊपर भार लेने की योग्यता प्राप्त कर सकें। जिस प्रकार देश में उपर्युक्त रीति की व्यवस्था स्थापित होने की दृढ़तापूर्वक माँग करना और उस माँग की पूर्ति में सहायक होना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार राजव्यवस्था का मान करना, करों का देना और न्यायपूर्ण शासन में राष्ट्र का सहायक बनना भी नागरिक धर्म के अन्तर्गत समझना चाहिए।

उपसंहार—प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह देश की भलाई बुराई के लिए अपने को उत्तरदायी समझे। देश की सम्पत्ति का अपव्यय न स्वयं करे और यथासम्भव न करने दे। वह अपने चरित्र और व्यवहार से देश के चरित्र का मापदण्ड ऊँचा उठावे जिससे देश में स्वस्थ लोकमत का निर्माण हो सके और भ्रष्टाचार असम्भव हो जावे। स्वयं अनुशासन में रह कर दूसरों में भी अनु-

शासन की भावना पैदा करे। विद्यार्थियों को चाहिए कि देश के संकट के समय जैसे बाढ़, भूचाल, अकाल, युद्ध, साम्प्रदायिक दंगे आदि के अवसरों पर जनता को सावधान और शान्त रहना सिखावे। स्वयं बेपैर की खबरों और केवल कानों सुनी बातों से विचलित न हो जावें और दूसरों को तथ्य बतला कर उनकी हिम्मत बँधाए रहें। संकट के समय हिम्मत खो देना जातीय दुर्बलता का परिचय देना होगा। सदा अपने मन को संतुलित रखना चाहिए। भावना को बुद्धि से नियन्त्रित रखता वाञ्छनीय है। हमारे विद्यार्थियों को चाहिए कि वे देश की समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। वे ही भावी नागरिक बनेंगे। यदि देश की समस्याओं से उनको विद्यार्थी जीवन से ही रुचि हो जायगी तो अपने नागरिक कर्त्तव्यों को भली प्रकार निर्वाह कर और देश को उन्नत बनाने में सहायक होंगे। विद्यार्थी जीवन तैयारी का जीवन है। जीवन को सफल बनाने के लिए जो बातें आवश्यक हैं उनका विनय और प्रेम के साथ अनुशीलन प्रत्येक विद्यार्थी का पुनीत कर्त्तव्य है।

चाह नहीं, मै सुर-बाला के गहनों मे गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी माला मे बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बनमाली! उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।।

—माखनलाल चतुर्वेदी

११

भारत का समन्वयवादी संदेश

उठे जूझने विश्व-समर में दुर्धर,
लोक-चेतना के युग-शिखर भयंकर;
विश्व-सभ्यता रुग्ण हृदय में,
व्याप्त हलाहल भीषण;
अमृत-मेघ भारत, क्या,
छिड़केगा न प्राण सँजीवन ।।

—सुमित्रानन्दन पंत

बादलों की स्वर्ण-रेखा—यद्यपि नव भारत में जितना स्पन्दन, कम्पन और नव जीवन चाहिए उसका एक अल्पांश भी नहीं दिखाई देता है, और उत्साह की अपेक्षा असंतोष तथा ह्रास की अपेक्षा क्रन्दन-रव अधिक सुनाई पड़ता है, तथापि जागृति के चिह्न भी सब ओर दिखाई पड़ते हैं। दीर्घकालीन दासता की ह्रासमयी वृत्तियों और दो महायुद्धों के संहारक परिणामों से पीड़ित मानवता को विषमताओं की मोहमयी कारा से हम पूर्णतया मुक्त नहीं हो सके हैं, फिर भी हम अपने आत्म-गौरव को पहचानने लगे हैं और हमारा हीनता-भाव भी दूर हो चला है। स्वराज्य से हमारा

स्वाभिमान बढ़ा है। हम किसी देश के पिछलग्गू नहीं हैं। हमारी वाणी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में सुनी जाती है और वह अपना महत्त्व भी रखती है।

स्वराज्य से हमारी आर्थिक समस्याएँ चाहे हल न हों (कल्प-वृक्ष इस संसार में नहीं है), फिर भी हम उनके हल की ओर अग्रसर हो चले हैं और यह निश्चित है कि 'मार्गस्थो न सीदति'-जो चल पड़ता है वह दुःख नहीं पाता है। पड़ा रहना ही कलियुग है और चलते रहना ही सतयुग है--

कलि शयानो भवति संजिहानस्तुद्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कतं सम्पद्यते चरन् ॥

अर्थात् सोने वाला कलियुगी होता है, अँगड़ाई लेने वाला द्वापर का, जो उठ खड़ा होता है वह त्रेता का होता है और चलना सतयुग का लक्षण है। हम द्वापर की अँगड़ाई से त्रेता के उत्थान-युग में आ गए और सतयुग का चलना भी सोच रहे हैं। हमारी पंचवर्षीय योजना की आंशिक उपलब्धियाँ यह बतलाती हैं कि हमने 'चरैवेति' अर्थात् चलते रहो का पाठ प्रारम्भ कर दिया है। नई प्रयोगशालाएँ खुल रही हैं। हमारे वैज्ञानिक मानवहिताय अणुशक्ति के अनुसंधान में भी लग गये हैं। रेल के इन्जनों के निर्माण में एक शती की प्राप्ति कर चुके हैं। अँग्रेजी राज्य के १५० वर्षों में जो सफलता भारत को नहीं मिली थी, वह स्वराज्य के दस वर्षों में मिल गई। हवाई जहाजों का भी निर्माण प्रारम्भ हो गया है। बिजली और पानी देने की बृहदाकार योजनाएँ चल रही हैं। हम चल पड़े हैं, हमारे पैर कभी-कभी लड़खड़ाते भी हैं और हम गिर भी पड़ते हैं, किन्तु पड़े नहीं रहेंगे, यही हमारी आशा है।

लड़खड़ाने के कारण––उन्नति के इतने प्रयत्न होते हुए भी हमको अभीष्ट सफलता नहीं मिली है, इसके कई कारण हैं । सबसे पहली बात तो यह है कि दलबन्दियों के कारण निर्माण-कार्यों में बहुत सी बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं और देश की शक्ति उन्नति के कार्यों में केन्द्रस्थ होने के स्थान पर विरोध और संघर्ष में बिखर जाती है । उत्पादन भी निर्बाधरूप से नहीं हो पाता, समतापूर्ण लाभ-वितरण के नाम पर उत्पादन को ही स्थगित कर देने वाली हड़तालें खड़ी हो जाती हैं । व्यापार और सरकार, पूँजीपतियों और मजदूरों की समस्याएँ उत्पादन में बाधक होती हैं । सरकार के बढ़े-चढ़े खर्चे आर्थिक कठिनाइयाँ उपस्थित कर देते हैं । इनके हल के लिए दोनों ओर से समझौते की भावना चाहिए । दल और पार्टियों से देश बड़ा है । हमारे विद्यार्थी भी यह भूल जाते हैं कि देश उनका है सरकार चाहे जिसकी हो; देश की संपत्ति का नाश करने और तोड़-फोड़ करने में वे अपना ही नुकसान करते हैं ।

इन सब कारणों से बढ़कर कारण हममें नैतिकता का अभाव है । हमारा यह अभाव ही हमारी योजनाओं की विफलता या अमितव्ययता का कारण बनता है । देश की जो आर्थिक न्यूनताएँ और असफलताएँ हैं उनका कारण दैवी प्रकोप नहीं है, 'दैव दैव आलसी पुकारा' उनका एकमात्र कारण हमारी नैतिक दुर्बलता है । इस नैतिक दुर्बलता को दूर करने के लिए गांधीजी प्रतिपादित सरल जीवन और उच्च विचार के कार्य को अपनाना होगा । विलासमय जीवन के बढ़े हुए खर्चों की पूर्ति के लिए हमें प्रायः बेईमानी का सहारा लेना पड़ता है । इसके अतिरिक्त हममें देश के प्रति गौरवभावना जागृत करने की आवश्यकता है । हममें यह गौरव-भावना उत्पन्न होने पर कि हम स्वतन्त्र देश के नागरिक हैं अतः हम कोई काम ऐसा न करें जिससे देश को हानि पहुँचे या उसका गौरव घटे, हममें से बहुत सी बुराइयाँ दूर हो जाएँगी ।

हमारे कवियों ने प्राचीनों की गौरव-गाथा का गान बड़े उच्च स्वर से किया है किन्तु नवीन भारत के प्रति उनकी उपेक्षा सी रही है। स्वतन्त्र भारत के जयघोष से उनकी वाणी मुखरित नहीं हुई है। उनकी दृष्टि अभावों की ओर अधिक गई है। हममें जहाँ दोष है, वहाँ कुछ थोड़ी प्रयत्नशीलता भी है। उसके लिए हमारे कवियों ने, धर्मोपदेशकों और लोकमत के नायकों ने हमारी पीठ नहीं ठोकी है। यदि वे ऐसा करें तो उनके साधुवाद से नव भारत का हृदय उत्साह से आन्दोलित हो उठेगा और सच्चे वीर रस का संचार होगा। हमारे कवियों ने तेनसिंह के साहसी कार्य की भी उपेक्षा सी की है।

हमारा लक्ष्य—हमारा लक्ष्य यह है कि देश में पूर्ण आर्थिक और सांस्कृतिक सम्पन्नता के साथ पूर्ण आन्तरिक शान्ति हो और बाहर भी हमारी सद्‌भावनाएँ फलवती होकर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करें। भीतरी और बाहरी शान्ति एक-दूसरे पर निर्भर हैं। बाहरी शान्ति के बिना हमारा देश उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता है, और भीतरी शान्ति के बिना हम दूसरों को शान्ति का उपदेश नहीं दे सकते हैं। भीतरी शान्ति के बिना शान्ति का उपदेश चिराग तले अंधेरे जैसी बात होगी। हम आन्तरिक शान्ति तभी स्थापित कर सकेंगे जब सब सम्प्रदायों और सब दलों में यह भावना उत्पन्न कर सकें कि सब सम्प्रदाय तथा दलों को अपनी-अपनी संस्कृति और विचारधारा के अनुकरण करने की स्वतन्त्रता है, यदि उनकी नीति और संस्कृति देश और देशवासियों के लिए घातक न हो। सौभाग्य से हमारा संविधान इस सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से उदार है।

धर्म, अर्थ, काम का समन्वय—हमारे यहाँ चार पुरुषार्थ माने गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष धर्म तथा काम के साम्य

से प्राप्त मुक्तावस्था है। इस संसार में हमको धर्म, अर्थ और काम से मतलब है। धर्म, अर्थ और काम की साधना जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में आवश्यक है, उसी प्रकार राष्ट्र के लिए भी परम वांछनीय है। (इस सम्बन्ध में मैं वाल्मीकि रामायण से एक उद्धरण देने का मोह संवरण नहीं कर सकता। भगवान् रामचन्द्रजी चित्रकूट में आए हुए भरतजी से कुशल प्रश्नों के साथ यह पूछते हैं कि अर्थ से धर्म में तो बाधा नहीं पड़ती और धर्म से अर्थ में किसी प्रकार का व्यव-धान तो नहीं पड़ता और प्रीति और लोभ तथा काम से धर्म और अर्थ में तो बाधा नहीं पड़ती ?

कश्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेणवा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेनकामेन न विवाधसे ॥

यही भारतीय समन्वयात्मक और संतुलनपूर्ण जीवन का दृष्टिकोण था।)

आजकल के लौकिक राज्य में धर्म को कुछ शङ्का की दृष्टि से देखा जाता है। किन्तु शङ्का की वस्तु धर्म नहीं है वरन् धर्म का दुरुपयोग है। धर्म तो समाज को धारण किये रहता है। वह हमको एक सूत्र में बाँधता है। जब हमारी एक सूत्रता पार्थक्य के बीज बोती है तभी वह सम्प्रदाय के रूप में परिणत हो जाती है। हमें अपने अङ्ग पुष्ट बनाने हैं किन्तु उसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि अङ्ग स्वतन्त्र नहीं हैं वरन् अङ्गी के ही अङ्ग हैं। धर्म के भी दो पक्ष हैं—साधारण धर्म और विशेष धर्म। साधारण धर्म सब धर्मों का प्रायः एकसा है। मनुस्मृति में बतलाया हुआ दश लक्षण वाला धर्म मनुष्य मात्र के लिए एक है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

महात्मा गांधी के बतलाये हुए एकादश व्रत भी ऐसे ही हैं। धर्म यहाँ के चार पुरुषार्थों में से एक है। धर्म ईश्वर या परम सत्ता-परक नीति-शास्त्र है। धर्म की साधना में ही नैतिक साधना है और नैतिक साधना राष्ट्रीयता का प्रथम सोपान है। धर्म से अविरुद्ध अर्थ और काम भी राष्ट्र और व्यक्ति दोनों के लिए वांछनीय हैं। अर्थ जब धर्म-विरुद्ध होता है तभी कलह का कारण होता है। चोर-बाजारी और भ्रष्टाचार धर्म-विरुद्ध अर्थ-संग्रह के रूप हैं। दूसरे राष्ट्रों को शक्तिपूर्वक दबाकर उनसे आर्थिक लाभ उठाना अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में धर्म-विरुद्ध अर्थ-संग्रह है।

हमारे यहाँ त्याग के साथ अर्थ का भोग बतलाया गया है। इस देश का आध्यात्मिक साम्यवाद कहता है कि सारा संसार ईश्वर से व्याप्त है। इसलिए त्याग के साथ भोग करो। दूसरों के माल पर कुदृष्टि मत रखो। दूसरों के भाग को छोड़कर हमको भोग करने चाहिए। यही नीति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में बरतनी चाहिए।

अर्थ का त्याग सभी को करना चाहिए। पूर्ण साम्यवाद सम्भव नहीं है। यद्यपि सभी कार्य राष्ट्रीय महत्त्व रखते हैं फिर भी सब धान बाईस पंसेरी नहीं बेचे जा सकते। कार्यों की महत्ता में अन्तर करना होगा और उसी मात्रा में उनके करने वालों की सुख-सुविधा में अन्तर देना पड़ेगा। किन्तु इसकी एक सीमा है। इस सीमा को स्वीकार करना ही सच्चा अपरिग्रह है। इस सीमा को अधिकारी वर्ग तथा पूंजीपतियों आदि सभी को मानना होगा तभी अर्थ धर्मा-विरुद्ध होगा। वह सीमा स्वेच्छापूर्ण त्याग से आ सकती है। स्वेच्छापूर्ण त्याग संघर्ष और कटुता को कम कर सकता है।

भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभः; (मैं धर्म से अविरुद्ध काम हूँ)। काम सौन्दर्य

और सृजन-शक्ति का प्रतीक है। विश्व का जो मंगल-विधान है, संसार में जो कला-वैभव है, वह सब काम का ही विस्तार है। हमको अपना राष्ट्र सुन्दर और कलामय बनाना है। कला और साहित्य की रक्षा और समृद्धि करनी है।

अन्य समन्वय—इन्हीं समन्वयों के साथ हमको भगवान के दैवी गुणों—शील, शक्ति और सौन्दर्य—को अपनाना है। ये भी धर्म, अर्थ और काम के ही रूप हैं। शील बिना शक्ति राक्षसी बन जाती है। शील के अभाव में ही तो हीरोशीमा के दृश्य घटित हो सके थे। शक्ति के बिना सौन्दर्य अपनी रक्षा नहीं कर सकता है और सौन्दर्य के बिना शील की भी रमणीयता जाती रहेगी। इसी प्रकार भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय करना होगा हमारे लिए पश्चिम के जीवन-सौष्ठव के साथ भारतवर्ष की आध्यात्मिकता चाहिए। वही भौतिकवाद के तम को मिटा सकती है।

पश्चिम का जीवन सौष्ठव हो विकसित
विश्वतन्त्र में वितरित।
प्राची के नव आत्मोदय से
स्वर्ण-द्रवित भू-तमस तिरोहित।

समन्वयवाद का पक्ष मैंने किसी चलती पुकार या नारे के रूप में नहीं किया है। समन्वयवाद मानवतावाद का ही रूपान्तर है। समन्वयवाद मनुष्य को एकांगिता से बचाता है और दूसरे पक्ष में भी सत्य के अंश को खोजने के लिए उद्यत करता है। दूसरे पक्ष के सत्य को न स्वीकार करने के कारण ही लड़ाई-झगड़े होते हैं। जिस मात्रा में दूसरे पक्ष की स्वीकृति होती है, उसी अंश में संघर्ष की सम्भावना कम हो जाती है। समन्वय सत्य की खोज पर आश्रित होना चाहिए। अन्धसमन्वय बेमेलपन उत्पन्न कर देगा। आन्तरिक और बाह्य शान्ति के लिए विभिन्न पक्षों के सत्यांश

की खोज और उनकी उदार स्वीकृति आवश्यक है। यह समन्वय और समझौते की भावना भारतीय संस्कृति की विशेष देन है।

भारत की विश्व को देन—भारत जगद्गुरु रहा है। ज्ञान की ज्योति की किरणें भी उसी के तपोवनों में पहले-पहल प्रस्फुटित हुई थीं। 'प्रथम प्रभात उदय तव गगने, प्रथम सामरव तव तपोवने।'

'सर्वखल्विदं ब्रह्म' को एकात्मवाद की व्यापक और उदार दृष्टि पहले-पहल भारत को ही मिली थी। एकात्मवाद के भीतरी साम्य के बिना पश्चिम का बाह्य साम्य निरर्थक है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का पाठ जब तक हृदयंगम नहीं होता तब तक साम्यवाद की दुहाई देना विडम्बना मात्र है। यूरोप के देश शक्ति की घुड़-दौड़ कर रहे हैं। अणु बम के पश्चात् उद्जन बम। वे प्रेम से नहीं शक्ति के आतंक से शान्ति की स्थापना चाहते हे। यह नीति पारस्परिक भय और अविश्वास को जन्म देती है। कोरिया के रक्त-पात से रणचण्डी का खप्पर नहीं भरा है। सशक्त राज्यों की रावण की भाँति युद्ध के लिए भुजाएँ फड़क उठती हैं। मानवता की रक्षा के नाम पर मानवता की ही हत्या हो रही है। हमको 'कामायनी' की इड़ा के शब्दों मे युद्धकामी शक्तिशाली देशों से कहना पड़ेगा—

> क्यों इतना आतंक ? ठहर जा ओ गर्वीले।
> जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले॥

यद्यपि युद्ध की विभीषिका से मानव जाति को बचाने के सतत् प्रयत्न संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा हो रहे हैं तथापि पाश्चात्य देशों को भारत की ऊर्ध्वगामिनी व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है। वह दृष्टि मनुष्य के ईश्वरत्व को सामने लाकर उसके आन्तरिक वैभव का उद्घाटन करेगी। भारत शक्तिशाली बनना अवश्य चाहता

है किन्तु उसकी शक्ति 'परेषां परिपीड़नाय' न होगी और न वह दूसरों पर आतंक जमाने के लिए शक्ति का संग्रह करेगा। उसकी शक्ति 'परेषां रक्षणाय' होगी। उसने 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु' का पाठ अपने जीवन-प्रभात में पढ़ा था, उसी को आज भी दुहराता है। वह सबका बराबर का अधिकार भी स्वीकार करता है। 'विध के बनाये जीव जेते हैं जहाँ तहाँ, खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देहु।' उसकी अहिंसात्मक निर्वैरता उसकी विशेषता है। वह किसी का शत्रु नहीं है और न किसी को अपना शत्रु बनाना चाहता है। वह सब के साथ सहयोग करेगा। रक्षा में वह सबका साथी है, संहार में वह सबसे अलग है। यही शान्ति का पाठ उसने पढ़ा है और यही वह दूसरों को पढ़ाना चाहता है। 'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया' यही संदेश वह शक्ति के ज्वर से पीड़ित मानवता को देना चाहता है। वह सिखाता है कि हमको अपनी विनाशनी शक्ति पर गर्व नहीं करना चाहिए वरन् अपनी विधायनी शक्ति से सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करना है।

पश्चिम के अत्यधिक बुद्धिवाद ने हमारी दृष्टि को भेदों की ओर अधिक प्रेरित किया है। भारतीय दृष्टि भेदों के बीच में बसने वाली एकता की ओर मानव का ध्यान आकर्षित करेगी। जितना हम ऊँचा उठते हैं, उतनी हमारी दृष्टि व्यापक होती है और उतनी ही मात्रा में भेद और कटुता विलीन हो जाती है। पूर्णता में ही सुख है। 'भूमा वै सुखम्'। दुनियाँ में जो संघर्ष है वह आंशिक दृष्टि के कारण है। जब हम सारे संसार के लाभालाभ के दृष्टिकोण से देखते हैं तब क्षुद्र स्वार्थों से उत्पन्न हुई कटुताएँ विलीन हो जाती हैं। भारत राष्ट्रीयता को उसी अंश में अपनाना चाहता है जहाँ तक कि अपने देशवासियों का पिछड़ापन दूर हो सके। वह अपने चारों ओर राष्ट्रीयता की तंग दीवारें खड़ी करके अपनी दृष्टि को संकुचित नहीं करना चाहता। न वह लोहे के परदे चाहता

है, न लकड़ी के। उसकी संस्कृति का जन्म तपोवनों के उन्मुक्त वातावरण में हुआ है; वह अपनी दृष्टि को भी उन्मुक्त और व्यापक रखना चाहता है, सत्य के लिए उसके द्वार सदा उन्मुक्त रहते हैं। अन्धकार में वह नहीं रहना चाहता है; अन्धकार से वह स्वयं दूर रहकर संसार में प्रकाश की कामना करता है। आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण के लिए उसकी आत्मा से नित्य यह पुकार निकलती है:—

ॐ असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय॥
मृत्योर्मा अमृतं गमय॥)

उद्बोधन

तुझको बड़े से बड़ा देखा चाहती हूँ मै,
मेरे जात सारे जन्तुओं में मुख्य तू ही है,
किन्तु छोटा हो कर ही कोई बड़ा होता है।
मिथ्या दर्प छोड़ने का साहस हो तुझ में,
तो व्यक्तित्व अपना समष्टि में मिला दे तू,
देश, कुल, जाति किंवा वर्ग भेद भूल के।
जा तू, विश्व मानव हो, सेवा कर सबकी।
भीति नहीं, प्रीति यथा तेरी रीति नीति हो।
उठ, बढ़, ऊँचा चढ़ संग लिए सबको;
सबके लिए तू और तेरे लिए सब हैं।
नाश में लगी जो बुद्धि बिलसे विकास में,
गर्व करूँ मैं भी निज पुत्रवती होने का।

—राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त (पृथ्वीपुत्र से)

परिशिष्ट भाग

१

हमारे राष्ट्र के प्रतीक

[राष्ट्रध्वज, राष्ट्रचिन्ह, अशोक स्तम्भ और राष्ट्रगान]

अंगी की मुख्यता होते हुए भी हमको अङ्ग ही दिखाई पड़ते हैं, वृक्षों में जंगल रहता हुआ भी वह उनसे अलग नहीं दिखाई पड़ता। परमात्मा संसार में व्याप्त होता हुआ भी संसार से अलग नहीं दिखाई देता है, यद्यपि उसका लोकातीत अव्यक्त रूप भी है जिसके दर्शन योगियों और देवताओं को भी मुश्किल से मिलते हैं, फिर भी अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करने और उसकी पूजा-अर्चना करने के अर्थ हम उसके अस्तित्व के प्रतीक स्वरूप मूर्तियां, मन्दिर, मस्जिद, सूर्य, चन्द्र, धर्मग्रन्थ, मंत्र, ऋचाएँ बना लेते हैं। उसी प्रकार समूचे राष्ट्र के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करने के लिए उसके मानचित्र, उसकी ध्वजा, उसके राजचिन्ह, उसके राष्ट्रगान, उसके संविधान आदि को उसके व्यापक रूप के प्रतीक बना लेते हैं। वे हमारी राष्ट्रीय एकता के द्योतक हो जाते हैं। वे हमारे वैविध्य में एक सम्पन्न और साम्यमयी एकता बन जाते हैं— 'बन्दे मातरम्', 'जयहिन्द' आदि राष्ट्रीय उद्घोष भी इसी प्रकार एकता के सूत्र हैं। उन्होंने हमारी स्वतन्त्रता की लड़ाई में हमको आगे बढ़ने और आत्म-बलिदान करने की प्रेरणा दी है। सत्य अहिंसा और न्याय के प्रति निष्ठा बनाए रखने के लिए महात्मा

गान्धीजी का चित्र भी देवमूर्ति की भाँति प्रेरणा का स्रोत बन जाता है। हमारे राष्ट्र को सुनिश्चित रूप देने में इन प्रतीकों ने सहायता दी है। राष्ट्रीयता के व्यापक विवेचन में हम अपने राष्ट्र को भूल न जावें, इसलिए उसके विवेचन से पूर्व उसके प्रतीकों से परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

राष्ट्र ध्वज—ध्वज चिरकाल से राजसत्ता और राज्य के व्यक्तित्व का परिचायक रहा है। वह उसकी संरक्षण शक्ति का भी द्योतक रहा है। अन्य राजचिन्ह निकट से ही दिखाई देते हैं परन्तु वह दूर से ही दृष्टिगोचर होता है। युद्धों में रथों पर रथी की विशेष ध्वजा रहती थी। कामदेव की ध्वजा पर मीन का चिन्ह होने के कारण वे मीन-निकेतन कहलाते हैं। अर्जुन की ध्वजा पर हनूमान जी का अङ्कन था। वे कपि-ध्वज कहलाते थे। इसी नाम से श्रीमद्भग्वद्गीता के पहले अध्याय में उनका उल्लेख है। मोर-ध्वज का नाम भी उनकी ध्वज पर मोर के चिन्ह से हुआ। केतु और ध्वजा पर और भी नाम हैं—धृष्टकेतु, तुङ्ग-ध्वज आदि। सीर-ध्वज नाम राजा जनक का है क्योंकि उनकी ध्वजा पर सीर अर्थात् हल का अङ्कन था। झण्डे (जर्जर) की पूजा नाट्य समारोहों के आरम्भ में होती थी। इसका नाट्य शास्त्र में उल्लेख है।

सभी राष्ट्रों के व्यक्तित्व का सूचक उनका राष्ट्र ध्वज होता है, जैसे ग्रेट-ब्रिटेन का यूनियन जैक और अमेरिका का पट्टियों और सितारे वाला झण्डा। हमारी राष्ट्र ध्वजा, जो आरम्भ में थोड़े से हेर-फेर से कांग्रेस की ध्वजा रही है (स्वतन्त्रता से पहले सफेद पट्टी पर चर्खा था अब उसके स्थान पर अशोक चक्र हो गया है), हमारे स्वतन्त्रता संग्राम में हमको आगे बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणा देती रही है। श्री श्यामलाल गुप्त का रचा हुआ **'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा; झण्डा ऊँचा रहे हमारा'** वाला गीत भी इससे

सम्बद्ध है। झण्डे की शान मातृभूमि की शान समझी गई। इसको ऊँचा रखने के लिए लोग जेल गए, मारें सहीं, और बहुत से बलिदान हुए। इस झण्डे के विकास का भी इतिहास है।

ब्रिटिश शासन में भारत का स्वतन्त्र अस्तित्व न था, उसकी कोई स्वतन्त्र राष्ट्र ध्वजा भी नहीं थी। ब्रिटिश साम्राज्य का यूनियन जैक ही अपना साम्राज्य जमाए हुए था। सभी उत्सव और महत्वपूर्ण अवसरों पर यूनियन जैक की छत्रछाया में कार्य सम्पन्न होते थे। राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने वाली संस्थाओं में अग्रगण्य संस्था कांग्रेस के भी वार्षिक अधिवेशन सन् १६२० तक यूनियन जैक की संरक्षता में होते रहे। राष्ट्रीय चेतना तो बङ्ग-भङ्ग से उग्र हो उठी थी किन्तु नरमदल के लोग शुरू-शुरू मे ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ही स्वराज्य चाहते थे।

अपनी स्वतन्त्र राष्ट्र ध्वजा के निर्माण का इतिहास कुछ संदिग्ध है। एकमत यह है कि भारत का राष्ट्रीय झण्डा ७ अगस्त १६०६ को पारसी बगान स्कवायर (ग्रीनपार्क) कलकत्ता में फहराया गया था किन्तु इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। अपनी स्वतन्त्र ध्वजा होने का विचार पहले-पहल १६०५–६ में कुछ ऐसे विद्यार्थियों के मन में आया जो विदेश में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। उनको यह पूछे जाने पर कि तुम्हारी राष्ट्र ध्वजा क्या है एक आत्मग्लानिपूर्ण स्वीकृति देनी पड़ती थी कि उनका राष्ट्रध्वज कोई नहीं है। उन विद्यार्थियों में वीर सावरकर का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने अपनी सूझ-बूझ के अनुसार एक झण्डा तैयार किया। यह घटना जर्मनी या पेरिस की बतलाई जाती है। उसकी रूपरेखा वर्तमान झण्डे से मिलती जुलती है। उसमें भी केसरिया, सफेद और हरी पट्टियाँ थीं। उन दिनों राष्ट्रीय क्षेत्र में बन्देमातरम् का बोलबाला था। अतः सफेद पट्टी पर 'बन्देमातरम्' अंकित था और केसरिया पट्टी पर आठ कमल अंकित थे जो उस समय के आठ प्रान्तों के प्रतीक

थे। (यह वर्णन 'अमर उजाला, के १५ अगस्त १९५९ के श्री राकाजी के 'हमारे झण्डे का इतिहास' शीर्षक निबन्ध से लिया गया है।) पब्लिकेशन डिवीजन से जो पुस्तिका निकली है उसमें पहले झण्डे की तसवीर कुछ हेर फेर से दी गई है। उसमें सबसे ऊपर हरी पट्टी, बीच में पीली और सबसे नीचे केसरिया। कमल हरी पट्टी पर अंकित हैं। केसरिया पट्टी पर सूरज और चाँद के चिह्न हैं। उस झण्डे की स्वदेश में मान्यता न हुई क्योंकि उसका किसी वैध समिति द्वारा निर्माण नहीं हुआ था।

दूसरा प्रयत्न श्रीमती एनी विसेन्ट अरन्डेल आदि होम रूल के परिपोषकों का था। उन्होंने १९१८ के लगभग उस किले पर जिसमें वे नजरबन्द थे एक झन्डा लगाने का प्रयत्न किया। वह प्रयत्न सरकारी विरोध के आगे सफल न हो सका। उसमें नौ प्रान्तों की सूचक नौ पट्टियाँ थीं (चार सफेद और पाँच हरी। पब्लिकेशन डिवीजन की पुस्तक में पट्टियाँ लाल और हरी हैं) उसके ऊपरी भाग पर दायीं ओर चन्द्रमा और बायीं ओर यूनियन जैक। हरी पट्टियों पर सप्तर्षियों का अङ्कन था। उस समय हिन्दू मुसलिम ऐक्य का ही मुख्य प्रश्न था, इसलिए लाल और हरी पट्टियाँ थीं। सप्तर्षियों में थियोसोफी का प्रभाव था। इसके बाद कई और प्रयत्न हुए। कई समितियाँ बनीं, कई सुझाव उपस्थित हुए।

(सन् १९२१ में गंभीरता पूर्वक विचार करने पर लाल और हरी पट्टी के अतिरिक्त गान्धी जी के सुझाव पर शेष सब धर्मों का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक सफेद पट्टी जोड़ी गई और एक चर्खा अंकित कर दिया गया किन्तु रंगों का कुछ विपर्यय-सा रहा। हरा रंग ऊपर था। इसमें गान्धी जी की उदार भावना काम करती थी। गान्धी जी का प्रिय चर्खा आर्थिक स्वतन्त्रता का प्रतीक था। वह एक प्रकार से हमारा अहिंसात्मक अस्त्र भी था।) यह झण्डा पहले पहल सन् १९२१ में अहमदाबाद कांग्रेस के पण्डाल में फहराया

गया। इस झण्डे ने भी काफी राजनीतिक प्ररेणा दी। १६२३ में इस झण्डे पर सत्याग्रह हुआ। अनेकों ने सजाएँ काटीं और चोटें सहीं। फिर भी झण्डे का वह रूप स्थिर न रह पाया, बहुत से उलट-फेर और वाद-विवाद हुए। झण्डे को अंतिम रूप देने का भार कार्य-समिति ने अपने हाथ में लिया। मूल समस्या यह थी कि किस सम्प्रदाय का रंग ऊपर रखा जाय? उनके अनुक्रम के विषय में मतभेद होने के कारण अन्त में यह सोचा गया कि रंगो को सम्प्रदायों से सम्बद्ध न करके गुणों का द्योतक माना जावे। रंगों को सम्प्रदायों से असम्बद्ध करने से झगड़े की जड़ जाती रही। नई व्याख्या के अनुसार केसरिया रंग धैर्य, त्याग तथा शौर्य का; सफेद रंग सत्य तथा शान्ति और हरा रंग विश्वास, खुशहाली और ऐश्वर्य का माना गया। कोई लोग इसे श्रद्धा और वीरता का सूचक भी मानते हैं। एक सम्पन्न राष्ट्र के लिए यह सभी गुण अवश्यक माने गए हैं। इस प्रकार अनुक्रम भी बदला और व्याख्या भी बदली। केसरिया, सफेद और हरी पट्टियों के अनुक्रम में सफेद पट्टी के ऊपर नीली रेखाओं में एक चर्खे का अङ्कन रखा गया जिसका रंग समुद्री नीले रंग का है। सन् १६३१ में राष्ट्रध्वज को यह अन्तिम रूप मिला और उस साल की बम्बई काँग्रेस में यही झण्डा फहराया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति तक यह झण्डा हमारा नेतृत्व करता रहा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संसद से अंतिम रूप को मान्यता देने के लिए एक और परिवर्तन हुआ। चर्खा का स्थान अशोक चक्र को मिला। इसका कारण एक तो यह है कि झण्डों के मान्य नियमों के अनुकूल जो चिन्ह हो वह दोनों तरफ से एकसा दीखे। चर्खे में यह बात नहीं थी। अशोक चक्र दोनों ओर एकसा दीखता है। दूसरा कारण अशोक चक्र हमारे शान्ति और प्रेम के वैभवपूर्ण इतिहास की याद दिलाता है। अशोक चक्र का बौद्ध-धर्म से सम्बन्ध

अवश्य है किन्तु अशोक भारत के वैभव की निशानी है और फिर यह चक्र अशोक से पहले भी सार्वभौमिक सत्ता का प्रतीक माना जाता रहा है जैसा कि चक्रवर्ती शब्द से व्यंजित होता है। वह काल चक्र का द्योतक है। उसका अर्थ है सतत् गतिशीलता। वह संरक्षण का भी प्रतीक है। पंडित जवाहरलाल नेहरू के विचार यहाँ पर पाठकों के लाभार्थ उद्धृत किए जाते हैं। (यह विचार संसद में झण्डा उपस्थित करते हुए २२ जुलाई सन् १९४७ को प्रकट किए गए थे। प्रस्ताव पेश करते हुए उन्होंने कहा:—

"निश्चय हुआ कि भारत का राष्ट्रीय झण्डा गहरे केसरिया, श्वेत और काले हरे रंग की समान अनुपात में पड़ी पट्टियों का तिरंगा होगा। श्वेत पट्टी के मध्य में समुद्री नीले रंग में चर्खे का प्रतिनिधित्व एक चक्र करेगा। चक्र की आकृति वही होगी जो सारनाथ में अशोक के सिंह स्तम्भ के शीर्ष पर बनी हुई है।'

'चक्र का व्यास श्वेत पट्टी की चौड़ाई के लगभग समान होगा।'

'झण्डे की लम्बाई और चौड़ाई में अनुपात साधारणतया तीन और दो का रहेगा।"

इस संकल्प या प्रस्ताव को पेश करने के पश्चात् प्रधानमन्त्री ने एक भाषण दिया। उस भाषण से झण्डे के अर्थों के सम्बन्ध में विवाद की सदा के लिए समाप्ति हो गई। उन्होंने कहा:—

"अब महाशय मुझे इस खास झण्डे के बारे में कुछ शब्द कहने की इजाजत दीजिए। आप देखेंगे कि इस झंडे में उससे कुछ फर्क है। जिसको हममें से बहुतेरे इन पिछले वर्षों में इस्तेमाल करते रहे हैं। रंग तो वे ही हैं—गहरा केसरिया, सफेद और काला हरा। पहले सफेद पट्टी पर चर्खा था, जो हिन्दुस्तान के आम लोगों की

निशानी था और जो हमें उस सन्देश से हासिल हुआ था जो हमें महात्मा गांधी ने दिया था। अब यह चर्खे का निशान इस झण्डे में कुछ बदल गया है, इसे एकदम हटाया नहीं गया। इसे बदला क्यों गया ? मामूली तौर पर, झण्डे के एक तरफ के निशान का दूसरी तरफ के निशान से पूरा-पूरा मेल बैठना चाहिए। नहीं तो कठिनाई पड़ती है और वह कायदे के खिलाफ बात हो जाती है। अभी तक इस झंडे पर चर्खा इस तरह छपा रहता था कि एक सिरे पर उसका पहिया और दूसरे सिरे पर तकुआ रहता था। अगर आप झंडे को दूसरी तरफ से देखें तो पहिए और तकुए की स्थिति बदल जाती है। अगर ऐसा न हो तो इसका अनुपात ठीक नहीं रहता, क्योंकि चर्खे का पहिया झंडे की तरफ रहना चाहिए, कपड़े के किनारे की तरफ नहीं। पहले झंडे में यह व्यवहारिक कठिनाई थी। इसीलिए बहुत सोच-विचार के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचे कि जो बड़ी निशानी अब तक लोगों का जोश और हिम्मत बढ़ाती रही है, वह जारी रहनी चाहिए, लेकिन उसे बदले हुए रूप में जारी रहना होगा। पहिया तो जारी रहेगा लेकिन चर्खे का बाकी हिस्सा नहीं, क्योंकि जिस तकुए और माल की बजह से कठिनाई पड़ती थी वे नहीं रहेंगे। चर्खे का जो खास हिस्सा है, यानी पहिया वह रहेगा। इस तरह चर्खे और पहिये के बारे में पुरानी परम्पराएँ कायम रहेंगी। मगर सवाल यह है कि हमारा पहिया कैसा हो ? हमारा ध्यान उन बहुत से पहियों की तरफ गया जो बहुत सी जगहों पर मौजूद है, और जिन्हें हम सबने देखा है। वैसा एक पहिया एक अशोक स्तम्भ के शीर्ष पर मौजूद है और वह और भी बहुत सी जगहों पर है। यह पहिया या चक्र भारत की पुरानी संस्कृति की निशानी है, यह उन बहुत सी बातों की निशानी है, जिनका भारत युग-युग से प्रतिपादक रहा है।"

उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने ध्वज पर के रंगों की व्याख्या इस प्रकार की—

("भगवा अथवा नारंगी रंग त्याग अथवा निस्पृहता का प्रतीक है। उन्होंने कहा कि हमारे नेताओं को भौतिक संचय की ओर से उदासीन रहकर अपने कार्य के प्रति आत्म-समर्पण कर देना चाहिए। मध्य का श्वेत, प्रकाश का प्रतीक है। हरा रंग भूमि के प्रति हमारे सम्बन्ध का सूचक है, अर्थात् वह 'इस भूतल पर वनस्पति जगत के साथ हमारे सम्बन्ध की सूचना देता है, जिसका आश्रय लेकर अन्य सब जीवित रहते हैं।")

श्वेत पट्टी का केन्द्रवर्ती अशोक चक्र धर्म-शासन का चक्र है। उन्होंने कहा—"सत्य और धर्म उन सबके मार्ग दर्शक सिद्धान्त रहने चाहिए जो कि इस झंडे के नीचे आकर काम करें। पुनश्च यह चक्र गति का भी प्रतीक है। स्थिति में मृत्यु है। गति में जीवन है भारत को परिवर्तन का विरोध नहीं करना चाहिए। उसे निरन्तर गतिमान और अनुगामी रहना चाहिए। यह चक्र शक्तिमय परिवर्तन की गतिशीलता को प्रकट करता है, अतएव हमने झंडे में जो परिवर्तन किया है, वह राष्ट्रीय झंडे में चर्खा अंकित करने के मूल विचार का विरोधी नहीं है।"

—पब्लिकेशन्स डिवीजन की 'हमारा झण्डा' पुस्तक से

(सम्राट् अशोक के सिंह स्तम्भ की प्रतिलिपि जो हमारी राजकीय मुहर और सरकारी पत्र व्यवहार के कागजों और हमारे नोटों पर अंकित रहती है अपना अलग इतिहास रखती है। चारों दिशाओं के चार सिंह चारों तरफ की जागरूकता और शक्ति के प्रतीक हैं। हमारा आदर्श वाक्य 'सत्यमेव जयते नानृतम्' हमारे राज्य का कार्य संचालन सूत्र है।) यह श्रुति वाक्य है और सत्य की

सी पवित्रता रखता है। सत्य न्याय की आधारशिला है। हमारी न्याय नीति सत्य पर ही आधारित है। अशोक स्तम्भ के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए हम साप्ताहिक हिन्दुस्तान के स्वतन्त्रता विशेषांक में मुद्रित श्री महादेव शास्त्री जोशी के एक अनुवादित लेख 'हमारे राष्ट्र का प्रतीक' से हम कुछ पंक्तियाँ साभार उद्धृत कर रहे हैं। इसका अनुवाद श्री विष्णु दत्त विकल ने किया है—

"**सारनाथ का सिंह-स्तम्भ**—अशोक के जन्म तथा उसका निर्वाण हुए दो हजार साल हो गये परन्तु उसने अपनी पुण्य स्मृति भारत के विभिन्न प्रदेशों में पहाड़ी गुफाओं तथा पाषाण-शिलाओं में चिरस्थाई कर दी है। उनमें भी अशोक के महत्वपूर्ण स्मारक उसके द्वारा बनवाए गये शिलास्तम्भ हैं। उन्हीं शिलास्तम्भों में एक शिलास्तम्भ के शिरोभाग की आकृति को भारत ने अपने सार्वभौम, स्वतन्त्र संघ राज्य का प्रतीक मान कर स्वीकृत किया है। कुदरत का खेल है, वह किस वस्तु को कब और किस प्रकार कहाँ से कहाँ पहुँचा दे यह कौन कह सकता है। यह चक्रांकित सिंहस्तम्भ सारनाथ में, भग्नावस्था में सदियों से मिट्टी और धूल में लोट रहा था। कालान्तर में चप्पा भर जगह उसे अजायबघर में मिल सकी। अभी तक जो खुले मैदान में लावारिस सा पड़ा था, वह अब छत के नीचे आ गया। लेकिन इतना होने पर भी उसकी किस्मत नहीं पलटी। आगे चल कर भारत स्वाधीन हुआ। उसने अपना संविधान बनाया। उस समय भारत की सार्वभौमिकता का प्रतीक क्या हो इस पर चर्चा चली। विचार-मंथन के परिणाम स्वरूप इसका भाग्य एक दम चमक उठा। तब अशोक निर्मित सचक्र सिंहस्तम्भ सर्व-सम्मति से भारतीय संघ राज्य का प्रतीक बना और सारे विश्व ने उसे मान्यता दी। उसके नीचे जो नया परिवर्तन हुआ वह आज इतना ही है कि उसमें 'सत्यमेव जयते' यह श्रुति वाक्य अंकित कर दिया गया।

अशोक-स्तम्भ का स्वरूप--इस अशोक स्तम्भ के मस्तक पर चार सिंह चारों दिशाओं की ओर परस्पर एक दूसरे से सटे हुए दीख पड़ते हैं। उनके नीचे घोंसले के समान गोलाकार चार चक्र खुदे हुए हैं। ये मानो चारों सिंहों के आधार भूत हैं। चारों चक्रों के मध्य में सिंह, हाथी, बैल और घोड़ा ये चार पशु अंकित हैं। जिस प्रकार चक्र गतिशील है उसी प्रकार से पशु भी गतिमान हैं। प्रत्येक चक्र में चौबीस दरांते हैं, ये बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार दिव्य ज्ञान के चौबीस श्रेणियों के निदर्शक हैं। बौद्ध मतानुसार वे ज्ञान चक्र हैं। परन्तु अशोक ने उसे केवल धर्म चक्र कहा है। इसका कारण है कि अशोक ने समस्त विजयों में धर्म विजय (धम्म विजय) को ही सर्व श्रेष्ठ माना है तथा उसमें लोक सेवा और लोक कल्याण इन दोनों में समस्त धर्मों का सार पाया है।"

हम भी इन उच्च आदर्शों को अपनाना चाहते हैं। हम अपनी विजय चाहते हे किन्तु भारी विजय सत्य की होगी (सत्यमेव विजयेत नानृतम्) धर्म की विजय होगी। लौकिक रूप से यह चक्र गतिशील समय का द्योतक है। इसके चौबीस आरे साल के चौबीस पक्षों के द्योतक हैं। यह हमारे राष्ट्र की सतत् गतिशीलता का द्योतक है।

राष्ट्र गीत---स्वतन्त्रता की लड़ाई में 'वन्देमातरम्' हमारा राष्ट्र गीत रहा है और यही हमारा राष्ट्रीय उद्घोष रहा है। उन दिनों 'बन्देमातरम्' ने सारे राष्ट्र को एक राष्ट्रीयता के सूत्र में बांध दिया था। यह गीत श्री वंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'आनन्द मठ' से लिया गया है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १८८२ में हुआ था। किन्तु यह गीत उससे भी पुराना है। पहली बार यह सन् १८९६ को कांग्रेस के वार्षिकोत्सव में गाया गया था। १९०५-६ में इसका देश व्यापी प्रचार हुआ। (इसमें भारत की प्राकृतिक

शोभा (शस्यश्यामलाम्, शुभ्र ज्योतिस्ना पुलकित यामिनीम्, द्रुमदल शोभनीम् आदि) के साथ कुछ करालता का भी उल्लेख है--'बलकल निनाद कराले'। भारत की अनन्त शक्ति की भी याद दिलाई गई है 'के वले मा तुमि अवले' और करवाल का भी उल्लेख है। इसमें सौन्दर्य और शक्ति का समन्वय है। यद्यपि अब 'जनगनमन' ने इसका स्थान ले लिया है तथापि यह जन-जन के हृदय में आज भी प्रतिष्ठा पा रहा है।

जनगनमन--हमारा वर्तमान राष्ट्र गीत कवीन्द्र-रवीन्द्र का लिखा हुआ है। यह राष्ट्र गीत प्रथम वार २७ दिसम्बर सन् १९११ को काँग्रेस अधिवेशन के दूसरे दिन स्वयं कवि के मुख से गाया गया था। पहले दिन परम्परा के अनुसार वन्देमातरम् का गान हुआ था। इसमें कवि हृदय की कोमलता और सुषुमा है। इसमें भारत की एकता का स्वर मुखर है और प्रायः सभी प्रान्तों को गौरव दिया गया है। इसमें एक विनम्र आस्तिक भाव है जो इसको विशेष कोमलता प्रदान करता है। 'तव शुभ नामे जागे, तव शुभ आशिष माँगे, गाहे तव जय गाथा।' जन गण को मंगल प्रदान करने के साथ मंगलमयी जय ध्वनि है--'जनगन मंगलदायक जय हे, भारत भाग्य विधाता।' स्वतन्त्रता के बाद लोक-मंगल और लोक-कल्याण भी आवश्यक है। यह ध्वनि बाजे में भी अच्छी निकलती है और एक मंगलमय वातावरण उपस्थित कर देती है।

इस गीत के लिए, इसमें आए हुए राजेश्वर और भारत भाग्य विधाता, शब्दावली के आधार पर, कुछ लोगों ने यह शंका प्रकट की थी कि यह सम्राट पंचम जौर्ज के स्तवन में लिखा गया है। यह बात विश्वकवि के स्वाभिमान के विरुद्ध थी। इसका उन्होंने स्वाभाविक, आत्मगौरव के साथ विरोध किया था। "उन लोगों को जवाब देना मैं अपना अपमान समझता हूँ जो यह समझते हैं कि

मैं जार्ज चतुर्थ या जार्ज पंचम को युग-युग के यात्रियों का चिर सारथी कहकर उनकी स्तुति करने की मूर्खता कर सकता हूँ।"

इस गीत की ध्वनि संयुक्तराष्ट्र के सदस्यों ने बहुत पसन्द की। विदेशों से इसके रेकार्डों की माँग हुई। यह गीत अपनी ध्वनि की मधुरिमा में तो अद्वितीय है ही किन्तु अपनी मंगलमयी भावना में भी अपनी समता नहीं रखता। २४ जनवरी सन् १९५० में यह गीत संविधान सभा द्वारा राष्ट्र गीत के रूप में स्वीकृत हुआ। इसके सम्बन्ध में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने यह विज्ञप्ति निकाली--"वह शब्दावली और स्वरलिपि जो 'जनगनमन' के नाम से जानी जाती है, सरकारी प्रयोजनों के लिए भारत के राष्ट्रीय गान के रूप में व्यवहृत होगी। इसकी शब्दावली में यथा समय सरकार के आदेशानुसार परिवर्तन किए जा सकते हैं। बन्देमातरम् को भी, जिसने भारत के स्वाधीनता संग्राम में ऐतिहासिक महत्व का योग दिया है, उतना ही सम्मान मिलेगा और उसका दर्जा जनगनमन के बराबर रहेगा।"

२

१५ अगस्त और राष्ट्रीय गर्व की भावना

विकास की आस भरा नवेन्दु सा,
हरा-भरा कोमल पुष्पभाल सा।
प्रमोद-दाता विमल प्रभात सा,
स्वतन्त्रता का शुचि पर्व आ लसा॥

१५ अगस्त का शुभ दिन भारत के राजनीतिक इतिहास में सबसे अधिक महत्त्व का है। आज ही हमारी सघन कलुष-कालिमामयी दासता की लौह शृंखलाएं टूटी थीं। आज ही स्वतन्त्रता के नवोज्ज्वल प्रभात के दर्शन हुए थे। आज दिल्ली के लाल किले पर पहली बार यूनियन जैक के स्थान में सत्य और अहिंसा का प्रतीक तिरङ्गा झण्डा स्वतन्त्रता की हवा के झोकों से लहराया था। आज ही हमारे नेताओं के चिरसंचित स्वप्न चरितार्थ हुए थे। आज ही युगों की परतन्त्रता के पश्चात् शंख-ध्वनि के साथ जयघोष और पूर्ण स्वतन्त्रता का उद्घोष हुआ था।

हमारी उदासीनता—इतने हर्षोल्लास के पुण्य पर्व पर हमारा सबसे पहला कर्त्तव्य तो यही है कि हम अपने खोये हुए स्वाभिमान की पुनः प्राप्ति पर हर्ष मनाएँ और अपने में स्वतन्त्रता के

उत्तरदायित्व की नवचेतना जाग्रत करें किन्तु हम अपने वैयक्तिक स्वार्थों में इतने जकड़े हुए हैं, अपने आर्थिक अभावों (जिनमें कुछ कल्पित भी हैं) की चेतना से इतने आक्रान्त हैं और दलबन्दी के दल-दल में इतने फँसे हुए हे कि हम नैराश्य और विरक्ति के साथ कह बैठते हैं कि स्वराज्य जिसके लिए आया होगा उसके लिए आया होगा, हमारे लिए तो वही अभावों से भरा जीवन है।

हम अपने अभावों की महत्ता को कम करना नहीं चाहते, हम आपके साथ यह भी कहने को तैयार हैं कि 'भूखे भजन न होइ गोपाला', किन्तु हम यह नम्र निवेदन करना चाहते हैं कि रोटी के बिना जीवन निर्वाह नहीं होता यह तो ठीक है, किन्तु मनुष्य केवल रोटी पर नहीं जीता, उसमें स्वाभिमान भी होता है। वैयक्तिक स्वाभिमान से भी जातीय स्वाभिमान अधिक महत्व रखता है—'सब ते अधिक जाति अपमाना'—किन्तु हमने उस जातीय स्वाभिमान की परवाह नहीं की। हममें राष्ट्रीयता की वह सामूहिक चेतना नहीं है जो स्वराज्य से पहले थी। हमने अपना तादात्म्य भारत की आत्मा से नहीं किया है। 'सरकार चाहे जिस दल की हो भारत अपना है' यह चेतना सामूहिक रूप से न हमारे बड़े-बूढ़ों में आई है और न विद्यार्थियों में। हम समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि को अधिक महत्व देते हैं। भारत के गौरव को हम अपना गौरव नहीं समझते हैं। 'मानो हि महतां धनम्' की बात को हम भूल गए हैं और याद भी है तो वैयक्तिक मान के सम्बन्ध में।

हमारे कवियों ने अभावों की ओर अधिक ध्यान दिया है। स्वतन्त्र भारत के विस्तारोन्मुख क्षितिज को देख कर जो हृदय की मुक्तावस्था आनी चाहिए वह उनमें बहुत कम मात्रा में आई है। जातीय चेतना जो स्वराज्य से पहले थी उसमें वृद्धि होने की अपेक्षा मूल में भी ह्रास दिखाई देता है। स्वतन्त्रता पर्व आता है और चला जाता है, एक रस्म सी अदा हो जाती है। हमने अपने वैयक्तिक

अभावों के कारण उसका मूल्य नहीं पहचाना है । हम उसका मूल्य स्वार्थ-सिद्धि की भाषा में आँकते हैं । कुछ लोग सामूहिक कष्टों से भी अवश्य दुखी हैं । ऐसी बात नहीं कि सब लोग वैयक्तिक अभावों से पीड़ित हों । अन्धकार के साथ कुछ आकर्षक और उज्ज्वल रेखाएँ भी हैं । उनकी ओर हमारा ध्यान अधिक दौड़ना चाहिए । नई योजना चरितार्थ हो रही है । उनमें चाहे अपव्यय हुआ हो, किन्तु सब धोका ही धोका नहीं । उसको धोका बताना हजारों लोगों के परिश्रम और बलिदान पर पानी फेर देना होगा । भाखरा नाँगल बाँध केवल मायाजाल नहीं है । उसमें त्रुटियाँ होते हुए भी वह एक विशालकाय आयोजन का परिचायक है । अन्न के अभाव के लिए सरकार की खूब बुराई हुई, किन्तु उसके दूर होने की स्थिति निकट आने पर किसी ने साधुवाद के दो शब्द भी नहीं कहे । क्या यह सब सब्जवाग है ? तेनसिंह द्वारा एवरेस्ट विजय पर हममें एवं विद्यार्थियों में वह उल्लास नहीं आया जो आना चाहिए और न साहसी कार्यों के लिए उतनी प्रेरणा मिली जितनी कि मिलनी चाहिए थी । हमारे कवि भी कुछ उदासीन से रहे । विदेशी राजनीति की गतिविधि में जो भारत का हाथ है उस पर हम गर्व नहीं करते । हिन्द चीन की विराम-सन्धि के निरीक्षक आयोग में भारत को जो अध्यक्षता मिली उससे हम वीतरागी वेदान्तियों को भाँति अविचलित हैं; हर्षोल्लास की रेखा हमारे मुख पर नहीं । विदेशी बस्तियों पर वहाँ के निवासियों को छोड़ कर उतना जन-क्षोभ नहीं प्रकट हुआ जितना होना चाहिए । शिक्षा और विज्ञान के क्षेत्र में नए अनुसन्धान हो रहे हैं । इन नवीन सम्भावनाओं से हमारे नवयुवकों का मन प्रभावित नहीं होता ।

अभावों के अस्तित्व में भी पर्व की खुशी—देश में अभाव हैं, असमानताएँ भी हैं, उनको भुलाया नहीं जा सकता किन्तु हमको यह भी नहीं भूलना चाहिए कि दुनियाँ इतनी सम्पन्न नहीं है कि

बल नहीं आने पाता वह इसी जातीय गर्व की भावना के अभाव के कारण है। भ्रष्टाचार पर हम विजय नहीं पा सके हैं, इसके मूल में भी जातीय गर्व का अभाव है। हमारे बहुत से उच्चाधिकारी भी राजमद में उन्मत्त हो गए हैं। यह जातीय गर्व के अभाव के कारण ही है। 'प्रभुता पाइ काहि मद नाईं' की लोकोक्ति उन्हीं के लिए है जिनमें जातीय गौरव और देशहित की भावना की कमी है। जातीय गर्व का अभाव वैयक्तिकता का पोषण करता है। ऐसे समय में जब विदेशी बस्तियों की उन्मुक्ति का प्रश्न है, अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व हमारे कंधों पर आ गया है, देश के डूबने और बचाने का सवाल है, जब चारों ओर से अलोचना के तीक्ष्ण वाण चल रहे हैं, इस जातीय गर्व की विशेष आवश्यकता है। कोरा जातीय गर्व काम न देगा। उसके भीतर सच्ची भावना होनी चाहिए जिससे हम उसको सार्थक करने के लिए अपना चरित्र ढाल सकें। राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान के बिना भ्रष्टाचार और अत्याचार, दम्भ और धोकेबाजी दूर न होगी।

हमारा उत्तरदायित्व—इस जातीय गर्व के साथ हमारे कंधों पर तदनरूप चरित्र-निर्माण का बोझ तो आ ही जाता है किन्तु उसी से हम पर अपने को ज्ञानसम्पन्न और शक्ति सम्पन्न बनाने का भी उत्तरदायित्व आजाता है। देश की गतिविधि से हम अनभिज्ञ रहते हैं। इस में सरकार का भी दोष है, उसका प्रचार विभाग भी जातीय गर्व से प्रेरित न होकर कोरी खाना-पूरी करता है। उसको चाहिए कि जनता के सम्पर्क में आए। आलोचनाओं के आधारभूत सत्य की खोज करे और सरकार की कठिनाइयों की व्याख्या करे। समस्याओं के अध्ययन में विशेषकर विद्यार्थियों को कोरी भावुकता से काम न लेना चाहिए। उनको निर्मम तर्क द्वारा पक्ष-विपक्ष की युक्तियों की छानवीन द्वारा पूर्ण निश्चय कर निर्भीकतापूर्वक अपना मत प्रकट करना चाहिए।

हमको चाहिए कि हम अपने हृदय को दूसरों की सफलता पर गर्व से स्पन्दित और दूसरों की विफलता पर सहानुभूति से आन्दोलित करने में सहायक हों। राष्ट्र के किसी भी क्षेत्र में किसी व्यक्ति की सफलता को अपनी सफलता और किसी व्यक्ति की विफलता को अपनी विफलता समझें। गीता के कर्म योग में बतलाया गया है कि जो कुछ हम कर्म करें उसको कृष्णार्पणमस्तु की भावना से करें। हमको अपने काम देश के गौरव हिताय करने चाहिए। हमें सोचना चाहिए कि हमारा अच्छा काम देश के गौरव को बढ़ायेगा और हमारा बुरा काम देश के मस्तक को नीचा करेगा। हमको अपने रहन-सहन के भीतरी और बाहरी दोनों स्तरों को ऊँचा करना चाहिए। सरकार पंचवर्षीय योजना में देश के बाहरी रहन-सहन को ऊँचा करने का उद्योग कर रही है। चारित्रिक स्तरों को ऊँचा करने की भी उतनी ही आवश्यकता है।

हम देश को सम्पन्न और शक्तिशाली बनाने में योग दें। अपने लड़के-बच्चों को ऐसे उद्योग-धंधे सिखाएँ जिनसे नवनिर्माण में सहायता पहुँचे। उनके जीवकोपार्जन में राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखें। हम अपने रहन-सहन को ही ऊँचा न करें, बल्कि दूसरों के रहन-सहन के ऊँचे होने में भी सहायक बनें। दूसरों के साथ प्रेम-व्यवहार से उनकी हीनता भाव को दूर करें। यदि हम सरकारी अफसर हैं तो हम शक्ति के आतंक से नहीं वरन् प्रेम और सेवा भाव से जनता को आकर्षित करें। सच्ची सेवा चुनाव के अवसरों पर वोट भिक्षा के परिश्रम और अपव्यय को भी बचाती है। हम अपने रहन-सहन तथा अपने घरों और नगरों को सुन्दर बना कर भारत को गर्व की वस्तु बनाएँ।

हम आलोचना करने से पूर्व समस्याओं का अध्ययन करने का प्रयत्न करें और उनके हल करने में भी योग दें। देश की सम-

स्याओं को अपनी समस्या समझें और उसके लिए अपना उत्तर-दायित्व अनुभव करें।

जातीय गर्व के बाधक—जातीय गर्व के बाधक कुछ कारण तो जनता पर आश्रित हैं और कुछ सरकार पर। प्रायः वैयक्तिकता का आधिक्य, प्रान्तीय भावना, साम्प्रदायिकता और दलबन्दी जातीय गर्व में बाधक होते है। लोग देश और जाति की अपेक्षा सम्प्रदाय और प्रान्त को अधिक महत्व देते हैं। यह संकुचित भावना है। राष्ट्र सब का है। सब प्रान्तों, सब दलों और सब सम्प्रदायों को एक नियमित सीमा तक पूर्ण स्वतन्त्रता है, किन्तु इस स्वतन्त्रता की आड़ में राष्ट्र के गौरव की उपेक्षा करना उसका दुरुपयोग है। राष्ट्र अंगी है, व्यक्ति दल, प्रान्त और सम्प्रदाय अंग हैं। अंग का हित अंगी की रक्षा में है। व्यक्ति, दल, प्रान्त और सम्प्रदाय की रक्षा राष्ट्र की रक्षा पर निर्भर है। इसलिए राष्ट्र की उपेक्षा अनुचित और घातक है।

सरकार का उत्तरदायित्व—जहाँ जनता का इतना कर्त्तव्य है वहाँ सरकार का भी इतना कर्त्तव्य है कि वह असन्तोष के कारणों का विधिवत अध्ययन करे और सत्य को ग्रहण करे। उसमें हठधर्मी को स्थान न दे। 'आवश्यक वैभव-प्रदर्शन' की आड़ में अपव्यय होता है तब नीचे के अफसरों को भी भ्रष्टाचार के लिए प्रोत्साहन मिलता है। सरकारी अफसरों में सच्ची सेवा भावना जाग्रत की जाय जिससे वे वास्तव में जनता के सेवक कहे जाने के अधिकारी बनें।

सरकार दूसरे दलों से भी इतनी उदारता का व्यवहार करे कि उनको भी यह अनुभव होने दे कि सरकार उनकी है। उनकी आलोचना से लाभ उठाए और उनके परामर्श को उचित मान दे।

राज्यों की समृद्धि और स्वतन्त्रता का सरकार उतना ही ध्यान रखे जितना कि केन्द्र की उन्नति का।

जनता और सरकार का सहयोग--जातीय गर्व की रक्षा का भार सरकार और जनता दोनों के ऊपर है। दोनों के सहयोग में ही जाति का कल्याण है। जहाँ जनता का कर्त्तव्य है कि वह सरकार और देश पर गर्व और राष्ट्रीय पर्वों में हर्षोल्लास प्रकट करे वहाँ सरकार का भी कर्त्तव्य है कि सच्चे अर्थ में जनता की सरकार और उसके गर्व की वस्तु बनने की अधिकारिणी बने। स्वस्थ लोकमत की वह उपेक्षा न करे और जनसम्पर्क के प्रति अधिक से अधिक उत्तरदायी बने। सरकार की मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा की रक्षा सरकार के अधिकारियों के हाथ में है। वे स्वार्थवश ऐसा काम न करें जिससे जातीय गर्व को हानि पहुँचे। वे सरकार की प्रतिष्ठा के लिए अपनी सुख-सुविधाओं और मान-प्रतिष्ठा का त्याग कर समाज के सच्चे सेवक बनें। वे राजकीय सत्ता के अधिकार से नहीं वरन् सेवा भाव से शासन करें जिसमें शासित को शासन का भार न अखरे और उनके बीच की खाई कम हो। हमारे ऊपर देश के किए हुए अनन्त उपकारों का भार है उससे हम सहज में उऋण नहीं हो सकते, प्रयत्नशील होना प्रत्येक देशभक्त का पुनीत कर्त्तव्य है—

जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं
परमहंस सम बाल्यकाल में सब सुख पाए
जिसके कारण धूल भरे हीरे कहलाए
हम खेले-कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद में
हे मातृभूमि तुझको निरख हम मग्न क्यों न हों मोद में

—राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त

३

दलबन्दी रोग और उसका उपचार

दल शब्द बहुत पुराना है। दल पत्ते को कहते हैं। धार्मिक लोग सभी तुलसी दल से परिचित हैं। किसी किल्ले में दल अर्थात् पत्ते आ जाना उसकी बृद्धि और सजीवता की निशानी है। जीवित समाज में दल अवश्य होंगे क्योंकि सब मनुष्य एक से विचार के नहीं होते। विचार-स्वातन्त्र्य मनुष्य के लिए गौरव की बात है। एक ही विचार-धारा में साम्य अवश्य रहेगा और संघर्ष की कमी होगी तथापि वह एकता विचार की दरिद्रता होगी। हमको दरिद्रता सूचक गणित की इकाई नहीं चाहिए वरन् जीवन की विविध धारामयी सम्पन्न इकाई चाहिए।

जब विभिन्न विचारों के लोग पृथक-पृथक वर्गों में बँध जाते हैं तभी दलों की सृष्टि होती है। दलों में संगठन होता है। उद्देश्य-हीन भीड़ की अपेक्षा संगठित दल का होना अच्छा है किन्तु जहाँ एक संगठन दूसरे संगठन से टकराता है, वहीं दलवन्दी दूषित रूप में परिणत हो जाती है। विभिन्न विचारधाराओं का होना बुरा नहीं क्योंकि जीवन ही विभिन्न धारामय है। जीवन का एक ही पहलू नहीं रहता। राजनीति के भी कई पक्ष होते हैं। जहाँ तक

सत्य के विभिन्न पहलुओं का दलों द्वारा उद्घाटन होता है वहाँ तक तो वे जीवन और राष्ट्र की सम्पन्नता में योग देते हैं किन्तु जहाँ एक दल यह समझने लगता है कि सत्य का एकाधिकार उसी के पास है और दूसरे दल सभी बुराइयों और भ्रान्तियों के केन्द्र हैं तभी दलबन्दी अपने दूषित रूप में आ जाती है। धर्म की भाँति राजनीति के भी कई पक्ष और पहलू होते हैं। निरपेक्ष सत्य को खोज निकालना बहुत कठिन होता है। निरपेक्ष सत्य को पा लेने का दावा करना सत्य को संकुचित करना है। जैसे धर्म में सम्प्रदाय बुरे नहीं, साम्प्रदायिकता बुरी है; उसी प्रकार राजनीति में दल बुरे नहीं, दलबन्दी बुरी है। एक संगठन जहाँ तक एक दल के लोगों में एकसूत्रता लाता है वहाँ तक वह श्रेयस्कर है किन्तु जहाँ वह दूसरे दल के साथ पार्थक्य और संघर्ष के बीज बोता है और घृणा का प्रचार करता है वहीं वह दूषित और निन्द्य हो जाता है।

दलबन्दी के रोग को चुनाव की प्रथा ने और भी उत्तेजना दी है। प्रजातन्त्र में यह अनिवार्य भी है, और उसका यह गौरव भी है कि सब विचारधारा के लोगों को शासन में हाथ बटाने का अवसर मिलता है। प्रजातन्त्र का यह वरदान ही कभी-कभी उसके लिए अभिशाप बन जाता है।

दलबन्दी में जहाँ शक्ति की उपासना आती है वहाँ शक्ति की तृष्णा इतनी बढ़ जाती है कि उसके आगे सिद्धान्तों का भी बलिदान कर दिया जाता है। दलबन्दी में दोष इसीलिए आता है कि दलों में अपने-अपने दल की श्रेष्ठता में विश्वास कर साधनों की परवाह नहीं की जाती है। दल वालों का यह मत हो जाता है कि साध्य जब अच्छा है तब साधन चाहे बुरे हों तो कोई बात नहीं। साध्य की पवित्रता साधनों को भी पवित्रता प्रदान करेगी।

यह विचारधारा दूषित है। महात्मा गान्धी की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने साध्य की पवित्रता के साथ साधनों को भी पवित्र रखने का उपदेश दिया है। संघर्ष हो किन्तु वैध साधनों द्वारा, तभी वह युद्ध धर्म-युद्ध का रूप धारण करता है। चुनाव की लड़ाई सत्य और सेवा के लिए लड़ी जाय। सत्य और सेवा को लड़ाई का बहाना न बनाया जाय।

लड़ाई प्रायः दूसरे दल को नीचा दिखाने के लिए लड़ी जाती है। नीचा दिखाने की ही बात कटुता ले आती है। इस कटुता को यथासम्भव बचाना चाहिए। लोग सेवा के प्रमाण-पत्र को प्राप्त कर चुनाव नहीं लड़ना चाहते वरन् प्रभाव, वैभव और शतरंजी चालों के भरोसे पर चुनाव लड़ते हैं। इसी से वैमनस्य पैदा होता है।

सत्ताधारी दल को ही सेवा का अधिकार नहीं है। यद्यपि यह मानना पड़ता है कि अन्य दलों की अपेक्षा उसका उत्तर-दायित्व बढ़ा-चढ़ा होता है, तथापि दूसरे दलों को भी अवसर आने पर सेवा-भाव का परिचय देना चाहिए। दूसरे दल वाले कभी सेवा के स्थान में परेशानी पैदा करने के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देते हैं, तोड़-फोड़ करा देते हैं। यह देश के हित में घातक है, यह देश-भक्ति का परिचय नहीं।

दलों को अपने से भिन्न दल वालों की कठिनाइयों पर ध्यान रखना चाहिए। सत्ताधारी दल सर्वगुण सम्पन्न नहीं होता है किन्तु उसे सर्व अवगुण निधान भी न समझना चाहिए। रावण में भी कुछ गुण थे। सत्ताधारी दल में जो गुण हों उनको स्वीकार करना चाहिए और उसके साथ जिन बातों में सहयोग हो सके सहयोग करना वांछनीय है। सहयोग से सौहार्द्र बढ़ता है।

सत्ताधारी वर्ग को भी चाहिए कि वह अपने वैयक्तिक लाभ की अपेक्षा सेवा की अधिक परवाह करे। अधिकार से लाभ अवश्य होता है (कभी-कभी उसको बढ़ा-चढ़ा रूप भी दे दिया जाता है।) किन्तु जहाँ तक हो अधिकार से प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा कम की जाय, जिससे दूसरे दलों में ईर्ष्या जाग्रत न हो और अधिकार को वास्तव में काँटों का ताज समझा जाय।

दलबन्दी तभी कम हो सकती है जब हम दूसरे के सत्य को स्वीकार करने को तैयार रहें और अपने पक्ष की कमजोरियों को भी स्वीकार करें। हठवाद मूर्खों और बड़े आदमियों में समान रूप से पाया जाता है; अन्तर केवल इतना ही है कि बड़े आदमियों का हठवाद सिद्धान्त की दृढ़ता के भव्य नाम से पुकारा जाता है। सिद्धान्तों की लड़ाई लड़ी जाय किन्तु उसमें कटुता न आने पावे। सिद्धान्तों की लड़ाई में शील और मानवता का बलिदान न किया जाय। विचारधाराओं के विचार में कभी-कभी रुधिर की धाराएँ बहा दी जाती हैं, यह मानवता नहीं, बर्बरता है। मनुष्य का महत्त्व सिद्धान्तों से भी बढ़कर है। समन्वय और समझौते की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाय। किसी दल के लोगों को इतना नीचा न समझा जाय कि उनके साथ समझौता असम्भव माना जाय। दूसरे दल की बुराइयों पर फतवा देने से पहले यह सोचा जाय कि हम यदि अधिकार में होते तो हम में क्या ये बुराइयाँ न आतीं ? बुराइयों और असफलताओं के असली कारणों को ढूंढ़ा जाय। पूर्व-ग्राहों से काम न लिया जाय। यह न समझा जाय कि अमुक पार्टी शक्ति में है, इसीलिए यह बुराई हुई, अन्यथा न होती। बहुत-सी बुराइयों के कारण बाह्य परिस्थितियों में रहते हैं।

दलबन्दी बुरी नहीं यदि वह नई विचारधारा देने के लिए तथा काम में स्फूर्ति लाने के लिए हो; संघर्ष और वैमनस्य

बढ़ाने के लिए न हो। विचारधाराओं के भेद पर आधारित दलबन्दी देश-हित में सहायक हो सकती है, किन्तु जाति, सम्प्रदाय आदि पर आश्रित दलबन्दी दोष और वैमनस्य की जननी होती है। एक पार्टी या दल के भीतर गुटों का होना और भी घातक होता है। यद्यपि गुटों का विभाजन प्राय: सिद्धान्तों पर आधारित होता है तथापि वे अधिकांश में व्यक्ति केन्द्रित होते हैं। उनमें दूषित अहंकार प्रबल हो जाता है। यह अहंकार पार्टी में फूट डालकर उसे कमजोर बना देता है। पार्टी के हित में व्यक्ति के अहंकार का बलिदान ही श्रेयस्कर है।

पार्टी हो या गुट हों जहाँ सहयोग के अवसर मिलें उनका स्वागत करना चाहिए। जिन अच्छी बातों में सहयोग हो सके, उन अवसरों से लाभ उठा कर पारस्परिक सौहार्द्र बढ़ाना वांछनीय है। देश के हित में यदि पार्टी के हित का बलिदान भी किया जाय तो उससे पार्टी को बल ही मिलेगा। पार्टी से देश बड़ा है। संघर्ष प्रकृति का नियम अवश्य है किन्तु मानव प्रकृति से ऊँचा है, उसे अपने उच्च पद का सदा ख्याल रखना चाहिए।

'बेढब' बनारसी की एक अमूल्य देन

बेढब की बानी

हिन्दी के हास्य-रस के कवि 'बेढब' बनारसी के कर्त्तृत्व और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालना सूरज को दिया लेकर ढूंढने के समान ही है। शिष्ट हास्य प्रणेता और व्यंगकार के रूप में तो उनकी प्रतिभा अप्रतिभ ही है। प्रस्तुत पुस्तक में उनकी एक सौ हास्यरसपूर्ण कविताएं संग्रहीत की गयी हैं। एक से एक बढ़कर। ये कविताएं समय-समय पर लिखी गयीं थीं। कुछ तो आज से कोई अठारह-उन्नीस साल पुरानी है। उनकी पृष्ठभूमि समाप्त हो जाने पर भी व्यंग्य के चुटीलेपन में कमी नही हुई है, यह कवि के रचना-कौशल और कल्पना शक्ति का बोलता इजहार है। हमारी मानसिक दासता और लाचारी का एक नमूना लीजिए :—

पूरब की बनी मिठाई
लगती है जैसे काई
पश्चिम की मिट्टी लगती
मिश्री की एक डली है।

आर्थिक क्षेत्र में पुरूष और नारी की होड़ की विद्रूपता की एक बानगी।

पत्नी जी टाइप चलातीं,
दो सौ मासिक हैं लातीं,
पतिदेव निरे टीचर हैं,
सत्तर में उमर ढली है।

और इन तमाम हिन्दी-समर्थक आंदोलनों के बावजूद,

अंग्रेजी क्यों न पढ़ें हम,
ऊँचे पर क्यों न चढ़ें हम,
अंग्रेजी वाला हिन्दी—
वाले से अधिक बली है।

—नवभारत टाइम्स से

मूल्य ५ रु०